आठ एकांकी नाटक

डा० रामकुमार वर्मा

आधुनिक युग की प्रेरणा के कारण ही बड़े नाटकों के रहते हुए भी एकांकी की आवश्ककता पड़ी। कुछ लोगों का भ्रम है कि आधुनिक साहित्य में एकांकी कृत्रिम चीज़ है, और साहित्य में उसका कोई स्थान नहीं, वह केवल फ़ैशन के कारण अपनाया गया है। उन्हें यह समझना चाहिए कि आधुनिक संघर्षमय जीवन में समयाभाव के कारण जिस प्रकार उपन्यास के होते हुए भी कहानी का जन्म हुआ, महाकाव्य के होते हुए भी मुक्तक प्रगीत और खण्डकाव्य की आवश्यकता पड़ी; उसी प्रकार बड़े नाटकों के होते हुए भी एकांकी का प्रवेश जीवन की आवश्यकता के कारण हुआ। काव्य आलोचना, निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक—हमारे साहित्य के प्रत्येक अंग पर पाश्चात्य साहित्य का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सारा साहित्य पश्चिम के फ़ैशन के कारण अपनाया गया। यदि एकांकी के पीछे जीवन की आवश्यकता की प्रेरक शक्ति न होती तो एकांकी आज इतना लोक-प्रिय न बन जाता। इसलिए जनता की अभिरुचि ही बतला रही है कि एकांकी हमारे साहित्य में गौरव-पूर्ण स्थान रखता है। और उसका भविष्य आशामय और उज्वल है।

साहित्य में एकांकी का स्थान

संस्कृत साहित्य में एक अंक के बहुत से रूपक होते थे। भाण व्यायोग, डिम ईहामृग, अंक, वीथी, गोष्ठी आदि प्रायः १८, २० प्रकार के एकांकी थे। इनकी रचना में भेद का प्रधान आधार वृत्ति, संधि, नायक-नायिका और कथानक होते थे। इसी लिए कुछ विशेष लक्षणों की संकुचित

प्राचीन संस्कृत एकांकी और आधुनिक एकांकी

परिधि में घिर कर ही लेखक इनकी रचना करते थे। और इन्हीं विभिन्न लक्षणों के अनुसार एकांकियों के विभिन्न नाम थे, जैसे वीथी एकांकी का लक्षण था—इसका नायक कल्पित हो, आकाश वाणी द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति हो, अर्थ-प्रकृतियों के साथ साथ मुख और निर्वहण संधियाँ हों, शृंगार-रस प्रधान हो। इन एकांकियों में जटिल लक्षणों की चरितार्थता भले ही हो जाती थी किन्तु सच्चे जीवन की अभिव्यक्ति न हो पाती थी। अल्प काय एकांकी में संधि, विष्कंभक, वृत्ति, नान्दी, मंगलाचरण आदि की अस्वाभाविक जटिलताओं तथा कृत्रिमता का नितान्त अभाव होता है।

एकांकी कला

किसी मार्मिक घटनाओं को एक ही अंक में थोड़े से समय में अधिक से अधिक उत्कृष्ट और प्रभावशाली रूप देना ही एकांकी कार की कला है। एकांकी में अनावश्यक विस्तार आदि के लिए बिल्कुल स्थान नहीं। थोड़े में सब कुछ कह जाना ही उसकी कला है। जो काम बड़ा नाटक अपने इतने बड़े विस्तार के कारण कर सकता है वही काम एकांकी अपनी लघु सीमा के भीतर ही दिखाने की क्षमता रखता है। बड़ा नाटक यदि उस बड़े बादल या बादल-समूह के समान है जो समुद्र की भाप से धीरे धीरे निर्मित होकर धीरे-धीरे घिरकर, उमड़ कर देर में बरसता है, तो एकांकी उस घनखंड के समान है जो थोड़े ही समय में देखते-देखते अपने लघु आकार में अधिक से अधिक वृष्टिशक्ति को घनीभूत करके बरस पड़ता है।

एकांकी का विषय जीवन का एक चित्र, एक रेखा, एक बिन्दु, एक झाँकी, एक अनुभव, एक परिस्थिति, एक पटल होता है। जीवन का एक दिन, एक घड़ी, एक क्षण भी उसके लिए पर्याप्त है। विस्तृत और व्यापक जीवन के प्रांगण में एकांकीकार किसी एक लघु घटना को चुन कर निकाल लेता है और उसी एक घटना में अपनी सारी कला और

प्रतिभा को केन्द्रीभूत कर देता है। वह अपनी सारी शक्ति अपनी सारी कल्पना-संपूर्ण कोमलता—पूरी कुशलता—सब कुछ उसी एक घटना में पुंजीभूत कर देता है। यही कारण है कि एकांकी हमें इतनी तीव्रता और मार्मिकता से प्रभावित करता है क्योंकि कला उसमें प्राण फूँक देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपने सम्पूर्ण अनुभव, प्रतिभा और कौशल के वसंत को एकांकी की एक कली में सीमित कर दिया हो। इसी कारण एक सफल एकांकी नाटक साधारण नाटक से अधिक प्रभाव शाली होता है।

कथावस्तु—एकांकी के कथानक में जीवन की एक छोटी से छोटी किन्तु मार्मिक घटना होती है। इसके चयन में ही लेखक की कुशलता है। सफलता है। इसी घटना में कुशल नाटककार कौतूहल का वह तीव्र वेग भर देता है जिसमें घटना के प्रवाह के लिए किसी अप्रधान प्रसंग की आवश्यकता नहीं होती। कथावस्तु एक सीधी स्पष्ट रेखा के समान आगे बढ़ती जाती है, उसके लिए वक्र होने, इधर उधर मुड़ने का न तो समय है न स्थान ही, कथावस्तु का विकास बिल्कुल ही स्वाभाविक ढंग से होता है। उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है। एकांकी के विषय में विस्तार के लिए अवकाश ही नहीं। एकांकी का केवल एक विषय होता है, सहायक विषयों के लिए उसमें बिल्कुल स्थान नहीं है।

घटना का कोई भी भाग उखड़ा हुआ या असम्बद्धसा नहीं प्रतीत होता है। घटना का एक एक अंग शरीर के एक एक अंग के समान होती है। चरम सीमा तक पहुँचते-पहुँचते घटना घटा के समान घनीभूत हो जाती है। पाठक का कुतूहल बढ़ने लगता है वह आगे का रहस्य जानने के लिए व्याकुल सा हो उठता है। कथावस्तु जब चरम सीमा से अवरोहण करती है तब भी उसमें गति और प्रवाह होता है। यद्यपि बहुत से एकांकी कार अपनी रचना में 'कुतूहल' का प्रयोग नहीं करते

फिर भी उनके नाटक अच्छे हैं, किन्तु 'कुतूहल' के प्रयोग के बिना एकांकी की कथावस्तु में शैथिल्य आ जाने का भय है।

आन्तरिक संघर्ष—चरित्र-चित्रण का कलात्मक अंग आंतरिक संघर्ष है। हमारे मनःक्षेत्र में छिपी हुई सूक्ष्म भावनाओं के द्वंद्व किस प्रकार चला करते हैं—इसका सुंदर उद्घाटन जब कोई कुशल कलाकार करता है तो हम उस वर्णन को पढ़ कर मुग्ध हो जाते हैं। आन्तरिक संघर्षों का प्रभाव आंगिक चेष्टाओं पर भी पड़ता है। नाटक कार का ध्यान इन सब विशेषताओं पर रहता है। जीवन का वास्तविक विशद स्वरूप आंतरिक-संघर्षों ही में मिलता है—चाहे वह विषाद मय हो या मंगलमय। दो विरोधी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व में मनुष्य की इच्छाशक्ति का उचित प्रयोग ही शक्तिशाली चरित्र का द्योतक है। सद् प्रवृत्ति की विजय इच्छाशक्ति से ही होती है। एकांकी में यद्यपि अधिक स्थान तो नहीं किन्तु किसी एक पात्र के आन्तरिक-द्वन्द्व को उत्कृष्टता के साथ दिखाया जा सकता है। मानसिक प्रवृत्तियों के संघर्ष की एक झाँकी दिखा कर नाटक कार हमें जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्य का दर्शन करा देता है।

पात्र

एकांकी में पात्रों की संख्या अधिक से अधिक चार या पाँच होनी चाहिए। इनमें से भी प्रधान पात्र दो या एक ही हो सकते हैं। क्योंकि दो या एक से अधिक पात्र के चरित्र की मार्मिकता के प्रदर्शन के लिए एकांकी में स्थान नहीं रहता। पात्रों का नाटकीय घटना से विशेष सम्बन्ध होना चाहिए। घटना की गतिविधि में प्रत्येक पात्र का समुचित सहयोग हो। केवल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्रों के लिए कोई स्थान नहीं है।

नाटक कार का एक मात्र अस्त्र संवाद है जिससे वह अपने लक्ष्य

संवाद

को भेदता है। कहानी या उपन्यास में स्वयं कलाकार भी बोलता है। किन्तु नाटक का कलाकार मौन रहता है, केवल पात्र ही बोलते हैं। फिर भी नाटकीय संवाद में पात्र जो कुछ मुँह से कहते हैं उसका शारीरिक अभिनय भी करते चलते हैं। एकांकी के संभाषण में नपे-तुले अर्थ से भरे हुए शब्दों का प्रयोग होता है। व्यर्थ के विशेषणों और प्रलाप के लिए कोई स्थान नहीं। संवाद रोचक, तर्कपूर्ण तथा प्रभावशाली होता है। गति, तीव्रता और प्रवाह ही संवाद की सफलता है। लंबा व्याख्यान प्रायः एकांकी की गति को मंद कर देता है। ऐसे व्याख्यानों के आयोजन का अवसर साधारणा बड़े नाटक में मिल सकता है। एकांकी में न उसके लिए स्थान ही है न अवसर ही। एकांकी के एक एक वाक्य और एक एक शब्द श्वास की तरह आवश्यक रहते हैं। यहाँ प्रमुख एकांकी नाटककारों की शैली की समालोचना करना अभीष्ट है।

उपेन्द्रनाथ अश्क—'अधिकार का रक्षक'।

आपने सुन्दर कहानियों की रचना द्वारा हिन्दी साहित्य में सम्मान अर्जित किया है, इधर कुछ दिनों से आपने एकांकी की श्री वृद्धि करना प्रारंभ किया है। 'लक्ष्मी का स्वागत' 'पापी' 'अधिकार का रक्षक' आपकी प्रशंसनीय रचनायें हैं।

हमारे सामाजिक जीवन के अंतराल में पहुँच कर आप उसकी कमजोरी की अभिव्यक्ति बड़े ही मार्मिक और वेदना-पूर्ण ढंग से करते हैं। कहीं कहीं आंतिरिक संघष का चित्रण भी आपकी रचनाओं में मिलता है। समाज के कारुणिक और व्यंगात्मक दोनों चित्रों के खींचने में आप सफल हुए हैं।

प्रस्तुत एकांकी 'अधिकार का रक्षक' में लेखक ने हमारे आधुनिक सामाजिक जीवन का एक व्यंगपूर्ण चित्र खींचा है। समाज सुधारक नाम धारी, स्वार्थी पद लोलुप और धोखेबाज व्यक्तियों के विकृत जीवन को हमारे सम्मुख रक्खा गया है। जो व्यक्ति अपने बाह्य और सामाजिक जीवन में दलित और पीड़ित मानवता के अधिकार का रक्षक है, वही अपने पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन में उन्हीं अधिकारों का तिरस्कार करता है। असेम्बली के चुनाव में अधिक वोट पाने की आशा में एक उम्मीद वार किस प्रकार जनता को झूठी प्रतिज्ञाओं द्वारा आकर्षित करता है, उनके अधिकारों की रक्षा का बीड़ा उठाता है—इसी का नग्न चित्र खींचकर लेखक ने समाज के उत्थान का आदर्श सम्मुख रखा है।

मि॰ सेठ इस नाटक के नायक हैं। उनके बाह्य और अन्तःजीवन का स्वाभाविक चित्रण है। बाह्य जीवन में वे बच्चों के लालन-पालन उनकी शिक्षा-दीक्षा उनके स्वास्थ्य उनके डरपोक और भीरु स्वभाव में सुधार की घोषणा करते हैं। व्यक्तिगत जीवन में वे अपने पुत्र बल राज के साथ निर्दयता का व्यवहर करते हैं। पाठशालाओं में शारीरिक दंड का विरोध करते हैं और घर में बच्चे को नित्य पीटते हैं। उसे अपने पास फटकने तक नहीं देते। वे बाहर निरीह अत्याचार-पीड़ित नौकरों के प्रति किए जाने वाले अन्याय को जढ़ से उखाड़ने के लिए 'नौकर-यूनियन' की स्थापना करते हैं और घर में नौकर और रसोइया पर स्वयं अत्याचार करते हैं, उनका तीन तीन महीने का वेतन नहीं देते। झूठ बोलना और धोखेबाजी से काम चलाना उनकी दिनचर्य्या हैं। परमार्थ के आवरण में स्वार्थ ही उनका उद्देश्य रहता है। विद्यार्थियों के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए वे अपने संपादक से कहते हैं 'आप इनका बयान छाप दीज़ियेगा।' अलग संपादक से विद्यार्थियों के चले जाने पर कहते हैं कि 'इनका बयान हरगिज न छापना'। यही है हमारा

कपट-पूर्ण सामाजिक जीवन। घर में अपने स्त्री को पीटने और उस पर अत्याचार करने पर भी बाहर घोषणा करते हैं 'महिलाओं के अधिकारों का मुझसे बेहतर रक्षक आपको वर्त्तमान उम्मीदवारों में कहीं नज़र न आएगा।' ऐसे ही लोग हमारा प्रतिनिधित्व करने का दम भरते हैं—'अन्तः शैवाः बहिः शाक्ताः सभामध्ये च वैष्णवाः'

लेखक ने कहीं कहीं मि० सेठ के व्यवहार तथा नौकर की बात में विनोद भी उपस्थित किया है। संपादक का चित्रण जो कुछ है स्वाभाविक है।

भाषा पात्रों के अनुकूल स्वाभाविक और मुहाविरेदार है। उर्दू के नित्य के बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग भाषा की व्यावहारिकता को बढ़ाता है।

कथोपकथन मनोरंजक और सुंदर है।

श्री विष्णु-'मां बाप'

एकांकी साहित्य में आपका प्रयत्न श्लाघनीय है। भावनाओं के द्वंद्व आप बड़ी कुशलता से दिखाने की क्षमता रखते हैं। कथानकों का चयन आप अच्छा करते हैं। आपके नाटकों में जीवन की विवेचना सुंदर और मार्मिक होती है।

प्रस्तुत एकांकी 'मां बाप' में लेखक ने मां-बाप के वात्सल्य और पुत्र-प्रेम का आदर्श उपस्थित किया है। साधारण स्थिति का पिता अपना सर्वस्व लगा कर पुत्र को शिक्षित बनाता है। उसी सुयोग्य पुत्र को देश या जाति के सेवक के रूप में देख कर वृद्ध पिता को इतना संतोष और आह्लाद होता है कि वह अपने पुत्र की मृत्यु पर भी रोना नहीं चाहता क्यों कि वह वीर पुत्र का वीर बाप है फिर भी पुत्र

शोक में आँसू आ ही जाते हैं। इन्हीं भावनाओं का बड़ा विशद चित्रण लेखक ने किया है।

नाटक के प्रारंभ में हम अशोक के मां-बाप को उद्विग्न से देखते हैं। बहुत दिनों के बाद छुट्टी में अशोक आने वाला है। रात्रि में थोड़ा सा शब्द होने पर भी अशोक की मां चौंक उठती है कि अशोक आ गया, मातृ-हृदय का स्वाभाविक चित्रण है। दामोदरस्वरूप अशोक के पिता प्राचीन आदर्शों के अनुसार पुत्र का वर्ष फल और जन्म पत्री बराबर ज्योतिषियों से दिखाते रहते हैं। इसी से पता लगता है कि पुत्र के हित की चिन्ता पिता को कितनी अधिक है। अनिता के स्वप्न में लेखक ने भावी घटना की सूचना बड़े कौशल के साथ दी है। मां बाप और बहिन तीनों की व्याकुलता और उत्सुकता का मनोवैज्ञानिक चित्रण है। कलावती का हृदय स्वभावतः दामोदरस्वरूप के हृदय से कोमल है। हिन्दु-मुस्लिम लड़ाई में अशोक की सेवा और वीरता सुनकर दोनों अश्रु को रोकने की चेष्टा करते हैं क्यों कि उनका पुत्र अपने त्याग और उत्सर्ग के कारण देश और जाति के लिए रत्न है। मातृ-हृदय इस लड़ाई में अशोक के क्षेम और कुशल के लिए जितना चिन्तित और दुखी है, उतना उसके सम्मान के लिए प्रसन्न नहीं।

अंतिम दृश्य में अशोक घायल लेटा हुआ है। मां-बाप की श्वास अशोक की श्वास के साथ चल रही है। देश के प्रसिद्ध नेता अमृत राम अशोक की प्रशंसा करते हैं 'एक दिव्यात्मा पृथ्वी पर उतरी थी आज लौट गई।' दामोदरस्वरूप अपने वीर पुत्र के वीर बाप बनने की चेष्टा में अंतिम कारुणिक दृश्य के समय भी अश्रु रोकना चाहते हैं। यहाँ दो भावनाओं का संघर्ष बड़ी मार्मिकता के साथ दिखाया गया है। एक ओर धैर्य्य और दृढ़ता है। दूसरी ओर पुत्र-प्रेम और शोक है। दामोदरस्वरूप कलावती को भी रोने से रोकते हैं, स्वयं प्रसन्न होने की चेष्टा करते हैं किन्तु अन्त में आँसू की बूँद आँख के कोने से

ढुलक ही जाती है, जिसे वह कुहनी से पोंछ लेते हैं—यही पुत्र-प्रेम की विजय है।

भाषा सरल भावोपयुक्त है। संभाषण सुंदर है।

सेठ गोविन्द दास—'मानव-मन'

सेठ गोविन्द दास के व्यक्तित्व में राज नीति और साहित्य का सुंदर सम्मिश्रण है। एकान्त जेल-जीवन में ही इनके अधिकतर नाटकों की सृष्टि हुई है। आपने बड़े नाटक तथा एकांकी दोनों लिखे हैं। आपके एकांकी नाटकों का विषय अधिकतर सामाजिक होता है। कथानकों का आधार या तो आधुनिक सामाजिक जीवन की कोई समस्या होती है या वर्त्तमान समाज की किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर संकेत होता है। सिद्धान्त और समस्या की प्रधानता के कारण इनके कथानकों में 'कुतूहल' का प्रायः अभाव-सा रहता है। पात्रों के चरित्र की मार्मिकता भी प्रायः विचार-पुष्टि ही के लिए दिखाई गई है। इनके एकांकी पात्र बहुलता के दोष से सर्वथा मुक्त हैं यद्यपि नाटकीय संकेत लंबा होता है। कहीं कहीं आन्तरिक-संघर्ष भी सुन्दर बन पड़ा है।

आधुनिक अंग्रेजी एकांकी लेखकों का इन पर स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इनके मुख्य नाटक हैं 'विश्व प्रेम' 'कर्त्तव्य' सेवा-पथ' 'कुलीनता' 'सिद्धान्त स्वातंत्र्य' 'स्पर्द्धा' और 'मानव-मन' मानव-मन नाटक में शीर्षक के अनुसार लेखक ने मनुष्य-हृदय की विचित्र प्रवृत्ति का विश्लेषण किया हैं। मन का मूल-भूत स्वाभाविक प्रवाह आदर्श की कठोर चट्टान से टकराता है, दोनों में संघर्ष होता है, अन्त में मन का तीव्र स्वाभाविक प्रवाह आदर्श की चट्टान छेद कर अपना रास्ता निकाल ही लेता है। आदर्श के ऊपर मूलभूत (Instinct) प्रवृत्ति की विजय होती है। क्योंकि आदर्श समाज द्वारा निर्मित बाह्य

सिद्धान्त है, और मनः प्रकृति स्वाभाविक रूप से हमारे जन्म के साथ ही मन में बद्धमूल रहती है। आदर्श के अंकुश द्वारा हम मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Instincts) का नियंत्रण कर किसी कष्ट को सहन कर सकते हैं, किन्तु लेखक के शब्दों में सहन-शक्ति-सीमा-रहित नहीं है। बरदाश्त करने की भी हद होती है।

नाटक की नायिका पद्मा पतिप्राणा नारी है। उसका आदर्श है अपने प्रिय पति के लिए अपने सर्वस्व का उत्सर्ग। उसकी भाभी अपने पति व्रजमोहन की बीमारी में दो वर्ष तक सेवा और तपस्या का कठिन जीवन व्यतीत करती है, किन्तु क्षय रोग की असाध्यता से उसका धैर्य्य टूट जाता है, उसकी सहन शक्ति शिथिल हो जाती है। और उसके बाद मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार उसके उल्लास और क्रीड़ा की दिनचर्य्या पुनः प्रारंभ हो जाती है। पति की बीमारी ही में भाभी के इस परिवर्त्तित व्यवहार पर पद्मा को आश्चर्य होता है। किन्तु भारती को इन बातों से अचंभा नहीं होता। वह पद्मा से कहती है कि यह मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। पद्मा अपने आदर्श को मन की प्रवृत्ति से ऊँचा समझती है। वह इस सिद्धान्त की पुजारिन है कि पति चाहे, किसी भी परिस्थिति में हो पत्नी अपने सारे सुखों को तिलांजलि देकर अपने को पति में विलीन कर दे। इस आदर्श का संघर्ष होता है स्वाभाविक मनः प्रवृत्ति से। वह प्रवृत्ति यह है कि जब किसी असीम और अनंत कष्ट को सहते सहते (चाहे वह अपने प्रिय के लिए ही हो) मन ऊब सा जाता है धैर्य्य विचलित हो जाता है, तब मन उस कष्ट के प्रति उदासीन होकर पुनः सुख की खोज में दौड़ता है। पद्मा अपने पति की बीमारी और अपने आदर्श का पालन, साधना और तपस्या के साथ करती है। खाना—पीना, सोना, पूजा-पाठ सब का परित्याग कर वह पति की निरंतर सेवा में दो साल तक लीन रहती है। उसका वेष मलिन, मुख उदास रहता

है। दो वर्ष बाद जब उसका पति उसे श्रीनाथ द्वारे जाने को कहता है तो पद्मा पति को छोड़ कर जाना नहीं चाहती। अंत में श्रीनाथ जी के आशीर्वाद से पति के स्वस्थ होने की भावना ले वह पति की आज्ञा से जाने को उद्यत होती है। जाते समय उसका तपस्विनी सा वेष नहीं है, जैसा पति की बीमारी में था। वरन वह रेशमी साड़ी ब्लाउज़ और रत्न जटित आभूषण धारण कर लेती है। अन्त में लेखक भारती के मुँह से मानव-मन की प्रवृत्ति बता कर नाटक बड़े सुंदर ढंग से समाप्त करता है। बीमार के साथ बिना किसी बीमारी के कोई बहुत दिन तक बीमार से भी बदतर हालत में नहीं रह सकता मृत के साथ जीवित अपने को मृत नहीं समझ सकता।

आदर्श की बात दूसरी है, किन्तु मानव-मन .....मानव-मन,

भाषा पात्रों के अनुकूल सरल और स्वाभाविक है। कृष्णवल्लभ के संभाषण में कहीं कहीं काव्य की छटा भी है। संभाषण उपयुक्त मार्मिक और सुन्दर है।

उदयशंकर भट्ट—'दस हजार'

काव्य और नाटक दोनों क्षेत्रों में भट्ट जी हिन्दी-साहित्य में गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके हैं। बड़े नाटकों में 'दाहर' 'अम्बा', 'विक्रमादित्य', 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा', और 'सगर विजय' आपकी सफल कृतियाँ हैं। आपने कुछ अच्छे एकांकी नाटक भी लिखे हैं। इनके नाटक प्रायः दुःखपूर्ण और मनोवैज्ञानिक होते हैं।

'दस हज़ार' सुन्दर रचना है। विशाखाराम के हृदय में दो प्रधान मानसिक प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक संघर्ष बड़ी कुशलता के साथ दिखाया गया है। पुत्र-प्रेम और धन-लोभ इन दोनों भावनाओं में द्वंद्व का सुंदर विकास दिखाते हुए लेखक ने धन-लोभ की विजय पुत्र-प्रेम

पर कराई है। मनोविज्ञान के सूक्ष्म नियमों के अनुसार वात्सल्य की मूलभूत प्रवृत्ति धन-संचय की प्रवृत्ति से अत्यंत बलवती है। यद्यपि इस स्वाभाविक नियम पर ध्यान देने से इस नाटक में कुछ अस्वाभाविकता की झलक आने लगती, है किन्तु हमारे समाज में 'शाई लाक' जैसे निर्दय कंजूसों की कमी भी नहीं है, जिन्हें धन प्राण से भी प्रिय होता है। नाटक के अन्त में सुन्दर की माँ पति मर्यादा की रक्षा के लिए अपने पुत्र से धन-लोभ के संबंध में कुछ नहीं कहती। केवल यही कहती है कि 'इन्हें नींद आ गई है बेटा आओ चलें' नारी-चरित्र की सुंदर झलक है।

कथानक में 'कुतूहल' का अभाव है फिर भी अन्तर्द्वन्द्व की शृंखला पाठक के मन को बरबस आगे खींचती चलती है। संभाषण में तीव्रता और गति है। 'लगैहै' "कहुहुँ" आदि के प्रयोगों द्वारा भाषा में स्वाभाविकता आ गई है। भाषा भावों और पात्रों के अनुकूल होने के साथ ही साथ मनोवेगों को सरलता से स्पष्ट करती चलती है।

————

भगवती चरण वर्मा—'मैं और केवल मैं'

कविता कहानी और उपन्यास लिखने में आपको सफलता और ख्याति दोनों प्राप्त हो चुकी है। 'मधुकण' प्रेम-संगीत' 'एक दिन' आदि आपकी काव्य-पुस्तकें हैं। 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' अच्छे उपन्यास हैं। 'इन्स्टाल मेण्ट' नामक आपका कहानी संग्रह सुंदर है।

इधर एकांकी के क्षेत्र में भी आपका प्रयत्न सराहनीय हुआ है। आपने बहुत थोड़े एकांकी लिखे हैं, 'सबसे बड़ा आदमी' और 'मैं' और केवल मैं' आपके प्रसिद्ध एकांकी हैं। दोनों ही में आपका

संकेत जीवन की कठोर वास्तविकता की ओर है। आदर्श और यथार्थ का संघर्ष आप कुशलता-पूर्वक दिखलाते हैं।

प्रस्तुत एकांकी-"मैं और केवल मैं" में लेखक ने, जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है इस कल्पित स्वार्थी संसार का चित्र खींचा है। सब लोग अपने निजी सुख और सुविधा के पाश से जकड़े हुए हैं। किसी को दूसरे की दुःख कहानी सुनने का अवकाश नहीं। सहानुभूति का प्रदर्शन भी मौखिक और बनावटी होता है। एक आदर्श वादी जब वास्तविकता की इस कठोर शिला से टकराता है, तब उसे प्रकट होता है कि स्वप्न और जागरण में क्या अंतर है। पात्रों में खन्ना स्वार्थी और निर्दय है। रामेश्वर भावुक और परोपकारी है। उसके हृदय में दुखी लोगों के प्रति सहानुभूति है। वह परहित के लिए तत्पर रहता है। किसी का अनिष्ट किसी प्रकार नहीं चाहता। उसका सहकारी कृष्णचन्द्र भी कठोर-हृदय व्यक्ति है। रामेश्वर की करुण दशा पर वह ध्यान तक नहीं देता। जब रामेश्वर मानवता का नाम लेता है, तो देवनारायण कहता है कि 'मानवता का नाम है एक दूसरे को खा जाना।' 'स्वयं सुखी बनने के लिए दूसरे को दुखी बनाना।'

परमानन्द के नौकरी से 'डिसमिस' किए जाने पर रामेश्वर परमानंद के दुःख से दुःखी हो उठता है, यद्यपि स्वयं उसके ऊपर विपत्तिओं का वज्र गिरा हुआ है। खन्ना के अन्याय और अत्याचार, परमानन्द का दुःख इन सब बातों का बड़ा तीव्र प्रभाव उसके हृदय पर पड़ता है। आवेश में आकर रामेश्वर खन्ना का गला दबाता है। जो आदर्श वादी रामेश्वर पहिले कहता था मैं खन्ना के खिलाफ कोई काम न करूँगा, (खन्ना के खिलाफ ही क्यों किसी के खिलाफ नहीं) वही रामेश्वर जब स्वार्थ और अन्याय की पराकाष्ठा को देखता है तो स्वयं निर्दय और कठोर बन कर खन्ना का प्राण ले लेता

है। परिणाम यही निकलता है कि आधुनिक भौतिक जीवन की स्वार्थ निर्दयता और अन्याय की पाषाणभूमि पर आदर्शवाद पल्लवित नहीं हो सकता। उसके लिए कोई स्वर्गीय कोमल-भूमि चाहिए।

यद्यपि कथानक में 'कुतूहल' का अभाव है, फिर भी कथावस्तु में शैथिल्य नहीं है।

भाषा प्रवाहयुक्त, स्वाभाविक तथा मुहाविरेदार है। कहीं कहीं आवेश-पूर्ण संभाषण में कवित्व की छाया भी है।

डा० राम कुमार वर्मा—'परीक्षा'

वर्मा जी जैसे सर्वतोमुखी असाधारण प्रतिभा के लेखक हिन्दी साहित्य में इने-गिने हैं। काव्य आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में आपने अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

आधुनिक ढ़ंग के उत्कृष्ट एकांकी नाटक के जन्मदाता का श्रेय आप ही को है। एकांकी नाट्य-साहित्य को संस्कृत की कृत्रिम रूढ़ियों से मुक्त करके उसे पाश्चात्य एकांकी के समकक्ष रखने का प्रथम प्रयास आप ही ने किया। आपके पूर्व 'प्रसाद' ने 'एक घूंट' और 'सज्जन' नामक एकांकी अवश्य लिखे थे, किन्तु इन नाटकों में नान्दी और सूत्रधार आदि का समावेश है।

रामकुमार जी ने अपने कथानकों का चयन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से किया है। आपके एकांकी सामाजिक ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक हैं। रचना की उत्कृष्टता के साथ ही साथ इनके नाटकों की संख्या भी अन्य एकांकीकारों की रचनाओं से बहुत अधिक है। इनके प्रायः सब नाटक अभिनय की कसौटी पर कसे जा चुके हैं और सफल उतरे हैं। 'बादल की मृत्यु' 'पृथ्वीराज की आंखें' नहीं का

'रहस्य' 'एक्ट्रेस' 'चंपक' 'दस मिनट' 'रेशमी टाई' 'चारुमित्रा' 'एक तोला' 'अफीम की क़ीमत' 'रजनी की रात' स्त्री और पुरुष 'कोयले की आँच' 'परीक्षा' आदि इनकी उच्चकोटि की रचनाएँ हैं। इनमें से कोई भी एकांकी पश्चिम के सफल एकांकी की टक्कर में रक्खा जा सकता है। रचना के परिमाण और उत्कृष्टता दोनों के आधार पर राम कुमार जी को हम एकांकी-सम्राट कह सकते हैं। बड़े नाटक के क्षेत्र में जो स्थान प्रसाद जी का है उपन्यास के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचन्द का है, एकांकी साहित्य में वही उच्च स्थान राम कुमार जी का है।

विश्वविद्यालय में एक उत्तरदायित्व के पद की आवश्यकताओं की समुचित पूर्त्ति करते हुए, काव्य और आलोचना साहित्य की श्री वृद्धि करते हुए वर्मा जी एकांकी नाटकों के निर्माण में रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे एकांकी-साहित्य के शिशु को बहुत थोड़े समय में विकसित और प्रौढ़रूप में देखना चाहते हों।

स्वयं एक आलोचक होने के नाते रामकुमार जी अपने नाटकों को एकांकी के आवश्यक गुणों से विभूषित कर देते हैं। इनके नाटकों की प्रधान विशेषताएँ हैं—कथानक में 'कुतूहल' का सुन्दर-सृजन, और चरित्र-चित्रण में आंतरिक संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। नाटक के अन्तर्द्वन्द्व को आप अधिक महत्व देते हैं। संभाषण की लड़ी में घटनाएँ मोतीं के समान गुँथी रहती हैं जिनका एक एक शब्द अपना निश्चित स्थान और मूल्य रखता है।

आपके नाटक परिस्थिति और काल की परिधि में नहीं बाँधे जा सकते। इनमें मानव-जीवन का अनन्त दर्शन है। मानव-जीवन को संचालित करने वाले मनोवैज्ञानिक तथ्यों के पहचानने की आप में अद्भुत क्षमता है। शैली में आपका व्यक्तित्व स्वयं बोलता है। एकांकी

की टेकनीक को आप पूर्णतया समझते हैं। चरम सीमा या 'क्लाइ-मैक्स' का जैसा सुन्दर रूप आपके नाटकों में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कवि होने के नाते आप भाषा को काव्य की कोमलता से सँवारते चलते हैं। आपकी रचनाएँ सर्वांग सुन्दर होती हैं। 'परीक्षा' आपकी अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। इस नाटक में भारतीय नारी के आदर्शों की मनोवैज्ञानिक परीक्षा है। पति परायणा सती हिन्दू-नारी को लेखक मनोविज्ञान की कसौटी पर कसता है। विदेशी प्रभाव के कारण आधुनिक उच्च-शिक्षा प्राप्त स्त्रियों का जीवन शिष्टाचार कृत्रिमता और विलासिता के रंगीन वातावरण से ढक गया है। हमें भ्रम होने लगता है कि ऐसे वातावरण में श्वास लेने वाली रमणी मन, वचन और कर्म से कदाचित ही पति-व्रत और सतीत्व के आदर्शों का पालन करती हो। आधुनिक आडंबर-पूर्ण जीवन में ऐसा प्रतीत होता है, लेखक वाचा और कर्मणा में कम विश्वास करता है। इसीलिए उसने नारी के 'मनस्' की परीक्षा का आयोजन किया है।

नाटक की नायिका रत्ना के सम्मुख यह परीक्षा यकायक आकस्मिक ढंग से आती है—परीक्षा की वही अग्नि जिसके भय से काँप कर सोना तरल हो जाता है। बड़ी ही मनोवैज्ञानिक कुशलता से लेखक ने इस परीक्षा की रूप-रेखा खींची है। इसमें उत्तीर्ण हो कर रत्ना भारत की रत्ना बन कर यह प्रमाणित कर देती है कि विदेशी सभ्यता से रंजित होने पर भी आधुनिक भारतीय नारी जीवन के अंतराल में पतिव्रत और सतीत्व का दिव्य आलोक है।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक डा० रुद्र के सम्मुख रत्ना एक गूढ़ पहेली बन कर आती है। सृष्टि के प्रारंभ से लेकर अब तक नारी-जीवन एक रहस्य बना हुआ है। इसी रहस्य के उद्घाटन के लिए डा० रुद्र की प्रयोगशाला में एक अद्भुत प्रयोग होता है। रहस्य यह है कि रत्ना इस बीसवीं शताब्दी की बीस वर्ष की ग्रेजुएट युवती है। ५० वर्ष की आयु

वाले प्रो० केदार के साथ उसका मनोवांछित विवाह होता है। वह पति को आराध्यदेव समझती है, नित्य पति की सेवा के लिए तत्पर रहती है, सब कार्य्य स्वयं अपने हाथों से करती है इसी व्यवहार से दोनों विद्वानों को आश्चर्य होता है। प्रो० केदार डा० रुद्र से कहते हैं 'मालुम होता है वे मुझ पर दया करती हैं, मुझे अपने काम में भुलाना चाहती हैं।' डा० तुम परीक्षा करके देखलो वे जो कुछ हैं, कहाँ तक हैं, कितनी गहरी हैं? आजकल की अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त युवतियों को समाज कैसी संदेहात्मक दृष्टि से देखता है, इसे लेखक ने केदार की 'शंका' में अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रकट किया है। इस शंका के समाधान के लिए संसार-प्रसिद्ध महान वैज्ञानिक डा० रुद्र अपने यन्त्र ठीक करते हैं—यह दृश्य बड़ा ही मार्मिक और कुतूहल-पूर्ण है।

डा० रुद्र के व्यक्तित्व को लेखक ने समुद्र के समान गंभीर और पर्वत के समान उच्च बनाया है। 'अमर यौवन रस, और रोने को हँसी में बदलना' आदि वैज्ञानिक प्रयोगों के वर्णन में जहाँ लेखक की बहुज्ञता का परिचय मिलता है, वहाँ डॉ० रुद्र की असाधारण प्रतिभा का भी। रुद्र की महानता और ख्याति देश-विदेश से आए प्रशंसा-पत्रों द्वारा लेखक ने बड़ी कुशलता से व्यक्त की है। डा० रुद्र का चित्रण मनो-विज्ञानवेत्ता के रूप में बड़ा स्वाभाविक हुआ है। केदार के विवाह की बात सुन कर डा० रुद्र एक अन्वेषक की भाँति कारण-कार्य्य का संबंध ढूँढ़ने लगते हैं, और रत्ना की शिक्षा, अवस्था पारिवारिक जीवन व्यवहार, स्वभाव आदि की गंभीर विवेचना के बाद अपना निष्कर्ष केदार को सुनाते हैं 'वे प्रेम के बजाय तुम्हारा आदर ज्यादा करती हैं'।

रत्ना का स्वभाव सरल गंभीर, अध्ययनशील है। वह पति ही को सर्वस्व समझने वाली देवी है। पति यद्यपि पचास वर्ष का है, किन्तु

उसकी उम्र का ध्यान न कर वह उसके स्वभाव और योग्यता का ही सम्मान करती है। रत्ना का जीवन पति के दुख-सुख आशा-निराशाओं की ही परिधि में घिरा हुआ है। वह बाहर के क्रीड़ा और उल्लासमपूर्ण जीवन से अपने को अलग रखती है। वृद्ध पति के जवान बनने की बात सुन कर रत्ना उछल नहीं पड़ती। उसके सम्मुख उम्र का मूल्य कुछ नहीं। पति वृद्ध हो या जवान रत्ना के लिए ईश्वर है। केदार के जवान बनने के विषय में जब डा० रुद्र रत्ना की राय पूछते हैं तो कितने संकोच के साथ कहती है "मैं क्या कहूँ" रत्ना को यह उतावली नहीं है कि रस पीकर उसका पति जवान हो जाय, वह डरती है कि रस कहीं नुकसान न पहुँचावे। रत्ना की घबराहट का कितना सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र लेखक ने वहाँ उपस्थित किया है जब वह रुद्र से कहती है कि उसी रस को कुछ बदल कर के दीजिए ताकि वे फिर पहिले जैसे हो जाँय। डा० रुद्र जब यह रत्ना के सम्मुख मनोवैज्ञानिक तथ्य रखते हैं कि यदि रत्ना भी बूढ़ी हो जाय तो वृद्ध केदार को शांति मिलेगी। तुरन्त रत्ना जीवन के महान उत्सर्ग के लिए तय्यार हो जाती है। मानव के लिए यौवन से बढ़ कर सुन्दर कोई चीज़ नहीं हो सकती। स्त्री के लिए तो यौवन और भी प्रिय और बहु मूल्य है। इसी भरे हुए यौवन को रत्ना पति की शांति के लिए ठुकरा देती है, और स्वयं वृद्धा बनने का आग्रह रुद्र से करने लगती है। इसी प्रकार हिन्दू-सतियाँ अपने पति के लिए अपने सर्वस्व का बलिदान कर सकती हैं।

इतना गंभीर और कठिन परीक्षा का अन्त लेखक ने बड़े विनोदात्मक ढंग से किया। नाटक के बीच में जो दुख और निराशा का बादल घिरने लगता है, अन्त में वह सुख और आशा की वायु से हट जाता है। इस प्रकार इस एकांकी में ट्रेजेडी और कमेडी दोनों का मधुर मिश्रण है। कहीं कहीं हास्य भी सुंदर बन पड़ा है।

संवाद में स्रोत की भाँति तीव्रता और प्रवाह है। कुतूहल का चुम्बक पाठक के मन को बरबस आगे खींचता जाता है। 'ससपेन्स' इतना अधिक है कि धैर्य्य टूटने लगता है, हम यह जानने के लिए उत्सुक हो उठते हैं कि आगे क्या होगा। जब लेखक रहस्य को खोल देता है तो नाटक की गति कुछ शिथिल अवश्य हो जाती है, किन्तु थोड़ी ही देर बाद नाटक समाप्त हो जाता है।

भाषा स्वाभाविक, व्यावहारिक और सरल है। रुद्र के शब्दों में नाटक की नायिका 'बहुत अच्छी हिन्दी बोलती है' तकल्लुफ इतमीनान आदि प्रचलित उर्दू शब्दों का प्रयोग स्वाभाविकता के लिए हुआ है। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार हुआ है, नाटक में काव्य की छाया का होना स्वाभाविक है, क्योंकि लेखक कवि होने के नाते भाषा की काव्यमय कोमलता में विश्वास करता है।

नाटक अभिनयोपयोगी है। लेखक स्वयं अभिनेता हैं। इसलिए रंगमंच की सुविधाओं का ध्यान रखते हैं इसमें एक ही दृश्य है, एक ही स्थान है। किसी भी ड्रइङरूम में नाटक अभिनीत हो सकता है।

(श्री योगेन्द्रनाथ शर्मा एम० ए०, एल० टी०)

श्री कमलाकांत वर्मा—'सूर्योदय'

लेखक ने इस नाटक में बड़े सुंदर ढंग से दिखाया है कि कला का आदर्श कितना महान और उच्च है, उसका मूल्यांकन करना कला का अपमान करना है। सच्चा कलाकार पृथ्वी पर ईश्वर का रचनात्मक प्रतिनिधि है। ईश्वर के निर्माण किए हुए विश्व का जो पुनर्निर्माण कर सके वही कलाकार है। कला के इस दिव्य कठोर

का आदर्श से संघर्ष होता है, बलवती राजसत्ता से। अंत में लेखक ने बड़े मार्मिक ढंग से दिखाया है कि कला के उच्च आदर्श के सम्मुख राजसत्ता को नत मस्तक होना पड़ता है और अपने को ईश्वर समझने वाला सम्राट मनुष्य बन कर कलाकार से क्षमा-याचना करता है।

शशांक का व्यक्तित्व ऊँचे और महान कलाकार का है। कला की साधना उसके लिए तपस्या है, वह उसका प्रदर्शन किसी के मनोविनोद के लिए नहीं करना चाहता। कला की आराधना को वह ईश्वरत्व की चरम आराधना समझता है। सम्राट द्वारा राजसभा के रत्न निर्वाचित किए जाने के सम्मान को वह कला का अपमान समझता है। वह राजसभा में अपने को बेचना नहीं चाहता, राजसभा स्वयं उसकी कला के पास आए तो आए। वह राजाज्ञा को अस्वीकार करता है क्योंकि वह केवल ईश्वराज्ञा में विश्वास करता है। सम्राट के सम्मुख भी कला का सच्चा उपासक निर्भय शशांक अहिंसा और सत्य के बल पर राजाज्ञा की अवज्ञा करता है। और मृत्यु का आलिंगन करके भी कला की मर्यादा को अक्षुण्ण रखना चाहता है। उत्पीड़न का वह सहर्ष स्वागत करता है।

निर्झरिणी की सृष्टि लेखक ने अत्यन्त मधुर और कोमल कल्पना के सहारे की है। वह भी कला की उपासिका है और कला के मूल्यांकन में विश्वास नहीं करती। किन्तु साथ ही वह यह भी जानती है कि अपूर्ण संसार में कला की महत्ता उसकी ऊँचाई नहीं दूसरों की आँखों से उस पर बरसाया जाने वाला मूल्य है। भारत की सर्वश्रेष्ठ नर्त्तकी के रूप में सम्राट की राजसभा का एक रत्न निर्वाचित किए जाने के सम्मान को वह सहसा नहीं ठुकरा सकती। पहले

अस्वीकार करती है, फिर स्वीकार कर लेती है, यद्यपि यह जानती है
कि रत्न बना कर संसार उसे खरीदना चाहता है। उसमें शशांक के
समान वह गंभीरता और स्थिरता नहीं कि वह संसार के आँके हुए
मूल्य का अपमान कर सके। राजसभा में शशांक के महान आदर्श,
प्रशांत, धीर और दृढ़ व्यक्तित्व को देख कर निर्झरिणी के हृदय में
शशांक के लिए असीम श्रद्धा उमड़ पड़ती है। राज सभा के सम्मुख
रत्न के पद को ठुकराने वाले शशांक का आदर्श ही निर्झरिणी का
आदर्श बन जाता है। वह पश्चात्ताप करती है और अपने पद का
परित्याग करके रात्रि के अन्धकार में शशांक से मिलने पर्वत-शिखा
पर जाती है। निर्झरिणी के हृदय में रत्न पद स्वीकार करने का जो
पश्चात्ताप है उसका मनोवैज्ञानिक वर्णन लेखक ने बड़ी कुशलता से
किया है। नारी-हृदय का मार्मिक चित्र उस समय देखने को मिलता है
जब निर्झरिणी शशांक के चरणों में आत्म-समर्पण कर आँचल फैला
कर उसके प्राणों की भीख माँगती है। किंतु शशांक अपने सत्य पर
अटल है। निर्झरिणी भी उसी मार्ग की पथिक बनती है और मृत्यु
का स्वागत करना चाहती है। शशांक के प्रति निर्झरिणी के आत्म-
समर्पण और अपारश्रद्धाभाव के अंतराल में छिपी हुई प्रेम की सूक्ष्म
रेखा को लेखक ने बड़े कौशल से दिखाया है। कला की मर्यादा के
लिए दो दो कलाकारों में बलिदान की भावना से सम्राट क्षुब्ध हो
उठते हैं। और वे शशांक से क्षमा-याचना करते हैं। यहीं कला की विजय
राजसत्ता पर है, और कलाकार की विजय राजा पर। ईश्वर के इन्हीं
दो प्रतिनिधियों—कलाकार और राजा के विचारों का संघर्ष इस
एकांकी में है।

प्राचीन ऐतिहासिक विषय के अनुकूल भाषा में प्रधानता तत्सम
शब्दों की है। कवित्व की छटा स्थान स्थान पर भाषा में सुकुमारत
भर देती है।

संवाद तर्कपूर्ण और प्रभावशाली है। अस्तित्व और जीवन के सम्बन्ध में चन्द्रसेन और निर्झरिणी के वार्त्तालाप में तर्क के साथ साथ दार्शनिकता की भी झलक मिलने लगती है।

नाटकीय संकेत आवश्यकता से अधिक है। उनमें प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण प्रधान है, ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास या कहानी के वातावरण के समान ही लेखक ने प्रकृति-चित्रण किया है। साधारणतः एकांकियों से नाटक बहुत लंबा है। साहित्यिकता के गुणों से विभूषित होते हुए भी नाटक अभिनयोपयोगी है। कहीं कहीं प्रकृति के दृश्य में भावी घटना का सुन्दर संकेत है।

राम कुमार वर्मा

अधिकार का रक्षक

(एक व्यंग)

ले०—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क

पात्र

मि० सेठ	एक दैनिक पत्र के मालिक तथा प्रान्तीय असैम्बली के उम्मीदवार
रामलखन	उनका नौकर
भगवती	रसोइया

कालेज के दो लड़के, सम्पादक, श्रीमती सेठ, नन्हा बलराम

समय—आठ बजे सुबह।

स्थान—मि० सेठ के मकान का ड्राइंग रूम।

[बायीं ओर, दीवार के साथ एक बड़ी मेज़ लगी हुई है, जिस पर एक रैंक में क़रीने से पुस्तकें चुनी हैं, दायें-बायें कोनों में लोहे की दो ट्रे रक्खी हैं, जिसमें एक में आवश्यक काग़ज--पत्र आदि और दूसरी में समाचार-पत्र रक्खे हैं। बीच में शीशे का एक डेढ़ वर्ग-गज़ का चौकोर टुकड़ा रक्खा है जिसके नीचे काग़ज़ दबे हुए हैं। शीशे के टुकड़े और किताबों के रैंक के मध्य में एक सुन्दर क़लमदान रक्खा हुआ है और एक-दो क़लम शीशे के टुकड़े पर बिखरे पड़े हैं।

मेज़ के इस ओर एक गद्देदार कुर्सी है, जिसके पास ही दायीं ओर एक ऊँचा स्टूल है, जिस पर टेलीफोन का चोंगा रक्खा हुआ है। स्टूल के दायीं ओर एक तख्त-पोश है, जिस सफाई से बिस्तर बिछा हुआ है। कुर्सी

और तख्त-पोश के बीच में स्टूल इस तरह रक्खा हुआ है कि उस पर पड़ा हुआ टेलीफोन का चोंगा दोनों जगहों से सुगमता के साथ उठाया जा सकता है। तख्त-पोश के पास एक आरामकुर्सी पड़ी हुई है। बायीं दीवार के साथ एक कौच का सेट है। बायीं दीवार में दो खिड़कियाँ हैं, जिनके मध्य केलेण्डर लटक रहा है। दायीं ओर दीवार में एक दरवाज़ा है, जो घर के बरामदे में खुलता है।

पर्दा उठने पर मि० सेठ कुर्सी पर बैठे कोई समाचार-पत्र देखते नज़र आते हैं]

(टेलीफोन की घंटी बजती है)

(मि० सेठ समाचार-पत्र ट्रे में फेंककर चोंगा उठाते हैं।)

"हेलो !"

(जरा और ऊँचे) "हेलो !"

"हाँ, हाँ, मैं ही बोल रहा हूँ। घनश्यामदास। आप... अच्छा अच्छा, रलाराम जी मन्त्री हरिजन सभा हैं ! नमस्ते। (जरा हँसते हैं) सुनाइए महाराज, कल के जलसे की कैसे रही ?"

"अच्छा ! आपके भाषण के बाद हवा पलट गई। सब हरिजन मेरे पक्ष में प्रचार करने को तैयार हो गये ?"

"ठीक ठीक ! आपने खूब कहा, खूब कहा आप ने ! वास्तव में मैंने अपना समस्त जीवन पीड़ितों पददलितों और गिरे हुओं को ऊपर उठाने में लगा दिया है। बच्चों को ही लीजिए, हमारे घरों में उनकी दशा कैसी शोचनीय है ? उनके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा की पद्धति कितनी पुरानी ऊल जलूल और दक़यानूसी है ? उनके स्वास्थ्य की ओर कितना कम ध्यान दिया जाता है और अनुचित दबाव में रख कर उन्हें कितने डरपोक और भीरु बनाया जाता है ? उन्हें........."

(छोटा बच्चा बलराम भीतर आता है।)

बलराम—बाबू जी, बाबू जी, हमें मेले.........

मि० सेठ—(पूर्ववत् टेलीफ़ोन पर बातें कर रहे हैं, पर आवाज तनिक ऊँची हो जाती है) हाँ, हाँ, मैं कह रहा हूँ कि मैंने बच्चों के लिए उन की शिक्षा-दीक्षा के लिए उनके स्वास्थ्य......

बलराम—(और समीप आकर कुर्ते का छोर पकड़ कर) बाबू जी...

मि० सेठ—(चोंगे से मुँह हटाकर, क्रोध से) ठहर ठहर कमबख्त ! देखता नहीं मैं टेलीफोन पर बात......

(बच्चा रोने लगता है)

मि० सेठ—(टेलीफोन पर) मैं आप से अभी एक सेकेंड में बात करता हूँ, इधर ज़रा शोर हो रहा है।

(चोंगा खट से मेज पर रख देते हैं।)

(बच्चे से) "चल, निकल यहाँ से। सूअर ! कमबख्त !!"

(कान पकड़कर उसे दरवाजे की तरफ घसीटते हैं, बच्चा रोता हुआ बैठ जाता है।

(नौकर को आवाज देते हैं) "ओ रामलखन, ओ रामलखन !"

रामलखन—(बाहर से) आये रहे बाबू जी।

(भागता हुआ भीतर आता है। साँस फूली हुई है।)

"जी बाबू जी।"

(मि० सेठ नौकर को पीटते हैं।)

"सूअर ! हरामखोर ! पाजी ! क्यों इसे इधर आने दिया ? क्यों इधर आने दिया इसे ?"

रामलखन—अब बाबू काहे मारत हो ? लिये तो जात रहे।

(लड़के का बाजू थाम कर उसे बाहर ले जाता है)

मि० सेठ—और सुनो, किसी को इधर मत आने देना। कोई बाहर से आये तो पहले आकर ख़बर दे देना। समझे। नहीं तो मारकर खाल उधेड़ दूँगा।

(नौकर और लड़के को बाहर निकालकर ज़ोर से
किवाड़ लगा देते हैं।)

"हुँ! अहमक़! मुफ्त में इतना समय नष्ट कर दिया।"

(चोंगा उठाते हैं।)

(तनिक कर्कश स्वर में) "हेलो !.........(आवाज़ में ज़रा विनम्रता लाकर) अच्छा, अच्छा, आप अभी हैं (स्वर को कुछ और संयत करके) तो मैं कह रहा था कि प्रांत में मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ जिसने उस आत्याचार के विरुद्ध आंदोलन किया, जो घरों और स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों पर तोड़ा जाता है और फिर वह मैं ही हूं, जिसने पाठशालाओं में शरीरिक दंड को तत्काल बंद कर देने पर जोर दिया। दूसरे अत्याचार-पीड़ित लोग घरों में काम करने वाले भोले-भाले निरीह नौकर हैं, जो क्रूर मालिकों के ज़ुल्म का शिकार बनते हैं। इस अत्याचार और अन्याय को जड़ से उखाड़ने के हेतु मैंने नौकर-यूनियन स्थापित की। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण होते हुए भी मैंने हरिजनों का पक्ष लिया, उनके स्वत्वों की, उनके अधिकारों की रक्षा के लिए मैंने दिन-भर एक कर दिया है और अब भी यदि परमात्मा ने चाहा और यदि मैं धारा-सभा में गया तो........."

(दरवाजा खुलता है।)

रामलखन—(दरवाजे से झाँक कर) बाबू जी जमादारिन......

मि० सेठ—(टेलीफोन पर बात जारी रखते हुए) मैं वहाँ भी हरिजनों की सेवा करूँगा! आप अपनी हरिजनसभा में इस बात की घोषणा कर दें।

रामलखन—(ज़रा अन्दर आकर) बाबू जी......

मि० सेठ—(क्रोध से) ठहर पाजी, (टेलीफोन में) नहीं नहीं, मैं नौकर से कह रहा था (खिसियाने से होकर हँसते हैं) हाँ, तो आप घोषित कर दें कि मैं असैम्बली में हरिजनों के पक्ष की हिमायत करूँगा और वे मेरे हक़ में प्रोपेगेंडा करें।

"हैं......क्या ?......अच्छा अच्छा......मैं अवश्य ही जलसे में शामिल होने का प्रयास करूँगा, क्या करूँ अवकाश नहीं मिलता हिहि......हिहिं......(हँसते हैं) "अच्छा नमस्कार है।"

(टेलीफोन का चोंगा रख देते हैं)

(नौकर से) तुम्हें तो कहा था, इधर मत आना।

रामलखन—आप ई तो कहे रहे कि कऊ आए तो इत्तला कर दे ई, मुदा अब ई जमादारिन अपनी मजूरी मांगत......

मि० सेठ—(गुस्से से) कह दो उस से, अगले महीने आये। मेरे पास समय नहीं। चले जाओ। किसी को मत आने दो।

भंगिन—(दरवाजे के बाहर से विनीत स्वर में) महाराज दूधों नहाओ, पूतों फलो। दो महीने हो गये हैं।

मि० सेठ—कह जो दिया। जाओ। अब समय नहीं।

(भगवती प्रवेश करता है)

भगवती—जयराम जी की बाबू जी।

मि० सेठ—तुम इस समय क्यों आये हो भगवती ?

भगवती—बाबू जी हमारा हिसाब कर दो !

मि० सेठ—(बेपरवाही से) तुम देखते हो, आज-कल चुनाव के कारण कुछ नहीं सूझता। कुछ दिन ठहर जाओ।

भगवती—बाबू जी, अब एक घड़ी भी नहीं ठहर सकते। आप हमारा हिसाब चुका ही दीजिए।

मि० सेठ—(जरा ऊँचे स्वर में) कहा जो है, कुछ दिन ठहर जाओ। यहाँ अपना तो होश नहीं और तुम हिसाब चिल्ला रहे हो।

भगवती—जब आप की नौकरी करते हैं तब खाने के लिए और कहाँ माँगने जाँय ?

मि० सेठ—अभी चार दिन हुए, दो रुपये ले गये थे।

भगवती—वे कहाँ रहे ? एक तो मार्ग में बनिये की भेंट हो गया था। दूसरे से मुश्किल से आज तक काम चला है।

मि० सेठ—(जेब से रुपया निकालकर फर्श पर फेंकते हुए) तो लो। अभी यह एक रुपया ले जाओ।

भगवती—नहीं बाबू जी, एक एक नहीं। आप मेरा सब हिसाब चुका दीजिए। वेतन मिले तीन तीन महीने हो गये हैं। एक-एक दो-दो से कितने दिन काम चलेगा ? हमारे भी आखिर बीवी-बच्चे हैं; उन्हें भी खाने-ओढ़ने को चाहिए। आप एक दिन के चाय-पानी में जितना खर्च कर देते हैं, उतना हमारे एक महीने........

मि० सेठ—(क्रोध से) क्या बक-बक कर रहे हो ? कह जो दिया, अभी यही ले जाओ, बाकी फिर ले जाना।

भगवती—हम तो आज ही सब लेकर जायँगे।

सेठ—(उठकर, और भी क्रोध से) क्या कहा ? आज ही लोगे। अभी लोगे ! जा। नहीं देते। एक कौड़ी भी नहीं देते। निकल जा यहाँ से, जा, जाकर पुलिस में रिपोर्ट कर दे। पाजी, हरामखोर, सूअर ! आज तक, सब्जी में, दाल में, सौदा-सुलुफ में, यहाँ तक कि बाज़ार से आनी वाली हर चीज़ में पैसा खाता रहा, हमने कभी कुछ न कहा और अब यों अकड़ता है। जा निकल जा। जाकर अदालत में मामल चला दे। चोरी के अपराध में छै महीने के लिये जेल न भिजवा दूँ तो नाम नहीं।

भगवती—सच है बाबू जी, गरीब लाख ईमानदार हो तो भी चोर है, डाकू है और अमीर यदि आँखों में झोंककर हज़ारों पर हाथ साफ कर जाय, चन्दे के नाम पर सहस्रों........।

मि० सेठ (क्रोध से पागल होकर) तू जायगा या नहीं, (नौकर को आवाज देते हैं) रामलखन, रामलखन !

रामलखन—जी बाबू जी, जी बाबू जी !

(भागता हुआ भीतर आता है)

मि० सेठ—इसको बाहर निकाल दो ।

रामलखन—(भगवती के बलिष्ठ, चौड़े चकले शरीर को नख से शिख तक देखकर) ई को बाहर निकारि दें, ई हमसों कब निकस, ई तो हमें निकारि दे...... ।

मि० सेठ—(बाजू से रामलखन को परे हटाकर) हट तुझ से क्या होगा ?

(भगवती को पकड़कर पीटते हुए बाहर निकालते हैं ।)

निकलो, निकलो ।

भगवती—मार लें और मार लें । हमारे चार पैसे रख कर आप लक्षाधीश न हो जायँगे ।

[मि० सेठ उसे बाहर निकालकर जोर से दरवाजा बन्द कर देते हैं ।]

(रामलखन से) "तुम यहाँ खड़े क्या देख रहे ? निकलो !"

(रामलखन डरकर निकल जाता है)

मि० सेठ—(तखत-पोश पर लेटते हुए)—मूर्ख, नामाकूल !

[फिर उठकर कमरे में इधर-उधर घूमते हैं फिर सीटी बजाते हैं और घूमते हैं, फिर नौकर को आवाज देते हैं :—]

रामलखन, रामलखन !

रामलखन—(बाहर से) आए रहे बाबू जी !

(प्रवेश करता है)

मि० सेठ—अख़बार अभी आया है कि नहीं ।

रामलखन—आ गया बाबू जी, बड़े काका पढ़ि रहन, अभी लाए देत ।

मि० सेठ—पहले इधर क्यों नहीं लाया ? कितनी बार तुझे कहा है, अख़बार पहले इधर लाया कर । ला भाग कर ।

(रामलखन भागता हुआ जाता है)

मि० सेठ—(घूमते हुए अपने आप) मेरा वक्तव्य कितना ज़ोरदार था, छात्रों में हलचल मच गई होगी, सबकी सहानुभूति मेरे साथ हो जायगी ।

(टेलीफोन की घंटी बजती है । मि० सेठ जल्दी से चोंगा उठाते हैं ।)

(टेलीफोन पर, धीरे से) "हैलो !"

(ज़रा ऊँचे) "हैलो !...कौन साहब ?...मन्त्री होज़री-यूनियन ! अच्छा अच्छा, नमस्कार, नमस्कार । सुनाइए, आपके चुनाव-क्षेत्र का क्या हाल है ?"

"क्या ?......सब मेरे हक़ में वोट देने को तैयार हैं । मैं कृतज्ञ हूँ । मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ ।"

"इस ओर से आप बिलकुल निश्चिन्त रहें । मैं उन आदमियों में से नहीं जो कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं । मैं जो कहता हूँ वही करता हूँ और जो करता हूँ वही कहता हूँ । आपने मेरा इलेक्शन मैनीफेस्टो (चुनाव सम्बन्धी घोषणा) नहीं पढ़ा । मैं असैम्बली में जाते ही मज़दूरों की अवस्था सुधारने का प्रयास करूँगा । उनकी स्वास्थ्य-रक्षा, सुख-आराम, पठन-पाठन और दूसरी माँगों के सम्बन्ध में विशेष बिल धारासभा में पेश करूँगा ।"

"क्या ? हाँ...हाँ, इस ओर से भी मैं बेपरवाह नहीं । मैं जानता हूँ इस सिलसिले में श्रम-जीवियों को किस किस मुसीबत का सामना करना पड़ता है । ये पूँजी-पति ग़रीब मज़दूरों के कई कई महीनों के वेतन रोककर उन्हें भूखों मरने पर विवश कर देते हैं, स्वयं मोटरों में सैर करते हैं, शानदार होटलों में खाना खाते हैं, और जब ये ग़रीब दिन-रात परिश्रम करने के बाद—लोहू पानी एक कर देने के बाद, अपनी मज़दूरी माँगते हैं तब उन्हें हाथ तंग होने का, कारोबार में हानि होने का अथवा कोई ऐसा ही दूसरा बहाना बना कर टाल देते हैं । मैं असैम्बली में जाते ही एक ऐसा बिल पेश करूँगा जिससे

वेतन के बारे में मजदूरों की सब शिकायतें सरकारी तौर पर सुनी जायँ और जिन लोगों ने गरीब श्रमियों के वेतन तीन महीने से अधिक दबा रक्खे हों उनके विरुद्ध मामला चलाकर उन्हें दंड दिया जाय।"

"हाँ, आपकी यह माँग भी सोलहों आने ठीक है। मैं असैम्बली में इस माँग का समर्थन करूँगा। सप्ताह में ४२ घंटे काम की माँग कोई अनुचित नहीं। आखिर मनुष्य और पशु में कुछ तो अन्तर होना ही चाहिए। तेरह-तेरह घंटे की ड्यूटी! भला काम की कुछ हद भी है!"

(धीरे-धीरे दरवाजा खुलता है और सम्पादक महोदय भीतर आते हैं)

पतले-दुबले से—आँखों पर मोटे शीशे की ऐनक चढ़ी है। गाल पिचक गये है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे आपको देर से प्रवाहिका का कष्ट है।

(धीरे से दरवाजा बन्द करके खड़े रहते हैं)

मि० सेठ--(संपादक से) आप बैठिए (टेलीफोन पर) ये हमारे संपादक महोदय आये हैं। अच्छा तो संध्या को आप की सभा हो रही है। मैं आने की कोशिश करूँगा। और कोई बात हो तो कहिए। नमस्कार!

(चोंगा रख देते हैं।)

(संपादक से) बैठ जाइए। आप खड़े क्यों हैं?

संपादक--नहीं, नहीं कोई बात नहीं।

(तकल्लुफ़ के साथ कौच पर बैठते हैं। रामलखन अखबार लिए आता है।)

रामलखन—बड़े काका तो देत नहीं रहन, मुदा जबरदस्ती लेई आये।

मि० सेठ--(समाचार-पत्र लेकर) जा, जा, बाहर बैठ!

(कुर्सी को तख्त-पोश के पास सरका कर उस पर बैठते हैं, पाँव तख्त-पोश पर टिका लेते हैं और समाचार-पत्र देखने लगते हैं ।)

संपादक—मैं...मैं...

मि० सेठ—(अखबार बन्द करके) हाँ, हाँ, पहले आप ही फ़र्माइए ?

संपादक—(ओठों पर ज़बान फेरते हुए) बात यह है कि मेरी... मेरा मतलब है......कि मेरी आँखें बहुत ख़राब हो रही हैं ।

मि० सेठ—आपको डाक्टर से परामर्श करना चाहिए था । कहिए डाक्टर खन्ना के नाम रुक्का लिखदूँ ।

संपादक—नहीं, यह बात नहीं, (थूक निगलकर) बात यह है कि मेरी आँखें, इतना बोझ नहीं सहन कर सकतीं । आप जानते हैं, मुझे दिन के बारह बजे आना पड़ता है । बल्कि आज-कल तो साढ़े ग्यारह ही बजे आता हूँ । शाम को छः सात बजे जाता हूँ, फिर रात को नौ बजे आता हूँ और फिर एक भी बज जाता है, दो भी बज जाते हैं, तीन भी बज जाते हैं ।

मि० सेठ—तो आप इतना न बैठा करें बस, जल्दी काम निबटा दिया......।

संपादक—मैं तो लाख चाहता हूँ, पर जल्दी कैसे निबट सकता है ? एक मैं हूँ और दो दूसरे आदमी हैं, जो न ठीक अनुवाद कर सकते हैं न ठीक लेख लिख सकते हैं, और पत्र बड़े-बड़े आठ पृष्ठों का निकालना होता है । फिर भी शायद काम जल्द ख़तम हो जाय, पर कोई समाचार रह गया तो आप नाराज़......।

मि० सेठ—हाँ, हाँ, समाचार तो न रहना चाहिए ।

संपादक—और फिर यही 'नहीं, आपके भाषणों की रिपोर्ट की भी प्रतीक्षा करनी होती है । उन्हें ठीक करते-करते डेढ़ बज जाता है । अब आप ही बताइए पहले कैसे जा सकते हैं ?

मि० सेठ—(बेजारी से) तो आख़िर आप चाहते क्या हैं ?

संपादक—मैंने पहले भी निवेदन किया था कि यदि एक और आदमी का प्रबन्ध कर दें तो अच्छा हो। दिन को वह आ जाया करे, रात को मैं, और फिर प्रति सप्ताह बदली भी हो सकती है। जिससे......

मि० सेठ—मैं आप से पहले भी कह चुका हूँ, यह असम्भव है; बिलकुल असम्भव है। अखबार कोई बहुत लाभ पर नहीं चल रहा इस पर एक और सम्पादक के वेतन का बोझ कैसे डाला जा सकता है? अगले महीने पाँच रुपये मैं आपके बढ़ा दूँगा।

संपादक—मेरा स्वास्थ्य आज्ञा नहीं देता। अखिर आँखें कब तक बारह-बारह तेरह-तेरह घंटे काम कर सकती हैं?

मि० सेठ—कैसी मूर्खों की बातें करते हो जी। छः महीने में पाँच रुपया वृद्धि तो सरकार के घर में भी नहीं मिलती। वैसे आप काम छोड़ना चाहें तो शौक से छोड़ दें। एक नहीं दस आदमी मिल जायँगे, लेकिन......

(रामलखन भीतर आता है।)

रामलखन—बाहर द्वि लड़िका आप से मिलना चाहत रहन।

मि० सेठ—कौन है?

रामलखन—कोई सकटड़ी कहे रहन......

मि० सेठ—जाओ, बुला लाओ। (सम्पादक से) आज के पत्र में मेरा जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, मालूम होता है, उसका कालेज के लड़कों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है।

सम्पादक—(मुँह फुलाए हुए) अवश्य पड़ा होगा।

मि० सेठ—मैंने छात्रों के अधिकारों की हिमायत भी तो खूब की है, छात्र-संघ ने जो माँगें विश्वविद्यालय के सामने पेश की हैं, मैंने उन सबका समर्थन किया है।

[दो लड़के प्रवेश करते हैं । दोनों सूट पहने हुए हैं, एक ने टाई लगा रक्खी है, दूसरे के गले में खुले कालर की कमीज हैं ।]

दोनों—नमस्ते !

मि० सेठ—नमस्ते !

(दोनों कौच पर बैठते हैं ।)

मि० सेठ—कहिए मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ।

खुले कालर वाला—हमने आज आपका वक्तव्य पढ़ा है ।

मि० से०—आपने उसे कैसा पसन्द किया ?

वही लड़का—छात्रों में सब ओर उसी की चर्चा है । बड़ा जोश प्रकट किया जा रहा है ।

मि० से०—आपके मित्र किधर वोट दे रहे हैं ?

वही लड़का—कल तक तो कुछ न पूछिए; लेकिन मैं आपको निश्चय दिलाता हूँ कि इस बयान के बाद ७५ प्रतिशत आपकी ओर हो गये हैं । अभी हमारी सभा हुई थी । छात्रों का बहुमत आपकी तरफ़ था ।

मि० से०—(प्रसन्नता से) और मैंने ग़लत ही क्या लिखा है ? जिन लोगों का मन बूढ़ा हो चुका है वे नवयुवकों का प्रतिनिधित्व क्या खाक करेंगे ? युवकों को तो उस नेता की आवश्यकता है जो शरीर से चाहे बूढ़ा हो चुका हो, पर जिसके विचार न बूढ़े हों, जो रिफ़ार्म से ख़ौफ़ न खाये; सुधारों से कन्नी न कतराये ।

वही लड़का—हम अपने कालेज के प्रबन्ध में भी कुछ परिवर्तन चाहते थे । परन्तु कालेज के सर्वे-सर्वाओं ने हमारी बात ही नहीं सुनी ।

मि० से०—आपको प्रॉटेस्ट (विरोध) करना चाहिए था ।

वही लड़का—हमने हड़ताल कर दी है ।

मि० से०—आपने क्या मांगें पेश की हैं ?

वही लड़का—हम वर्तमान प्रिंसिपल नहीं चाहते । न वह ठीक तरह पढ़ा सकता है, न ठीक प्रबन्ध कर सकता है, कोई छींके तो जुर्माना

कर देता है, कोई खाँसे तो बाहर निकाल देता है। छात्रों से उसका व्यवहार सर्वथा अनुचित और उनके नातेदारों से अत्यन्त अपमान जनक है!

मि० से०—(कुछ उत्साहहीन होकर) तो आप क्या चाहते हैं?

दोनों—हम योग्य प्रिंसिपल चाहते हैं।

मि० से०—(गिरी हुई आवाज़ में) आपकी माँग उचित है, पर अच्छा होता यदि आप हड़ताल करने के बदले कोई वैधानिक रीति प्रयोग में लाते, प्रबंधकों से मिल जुल कर मामला ठीक करा लेते।

वही लड़का—हम सब कुछ देख चुके हैं।

मि० सेठ—हूँ!

टाई वाला लड़का—बात यह है जनाब, कि छात्र कई वर्षों से वर्तमान प्रिंसिपल से असंतोष प्रकट करते आ रहे हैं, पर व्यवस्थापकों ने तनिक भी परवा न की। कई बार आवेदन-पत्र कालेज की प्रबंधक-कमेटी के पास भेजे गये, पर कमेटी के कानों पर जूँ तक भी नहीं रेंगी। हार कर हमने हड़ताल कर दी है, पर कठिनाई यह है कि कमेटी काफ़ी मजबूत है, प्रेस पर उसका अधिकार है। हमारे विरुद्ध सच्चे-झूठे वक्तव्य प्रकाशित कराये जा रहे हैं,और हमारी खबर तक नहीं छापी जाती। आपने छात्रों की सहायता का, उनके अधिकारों की रक्षा का बीड़ा उठाया है इसीलिए हम आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।

मि० सेठ—(अन्यमनस्कता से) मैं आपका सेवक हूँ। ये हमारे सम्पादक हैं, आप कल दफ्तर में जाकर इनको अपना बयान दे दें। वे जितना उचित समझेंगे, छाप देंगे।

दोनों—(उठते हुए) बहुत बेहतर, कल हम सम्पादक जी की सेवा में उपस्थित होंगे। नमस्कार।

मि० सेठ और सम्पादक—नमस्कार।

(दोनों का प्रस्थान)

मि० सेठ—(सम्पादक से) यदि कल ये आयें तो इनका बयान हरगिज़ न छापना। प्रिंसिपल हमारे कृपालु हैं और कमेटी के सदस्य हमारे मित्र।

सम्पादक—(मुँह फुलाए हुए) बहुत अच्छा।

मि० सेठ—आप घबरायें नहीं, यदि आपको कुछ दिन ज्यादा काम ही करना पड़ गया तो क्या आफ़त आ गई। जब मैंने अखबार शुरू किया था तब चौदह-चौदह, पंद्रह-पंद्रह घंटे काम किया करता था। यह महीना आप किसी न किसी तरह निकालिए, चुनाव हो ले, फिर कोई प्रबन्ध कर दूँगा।

सम्पादक—(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) बहुत अच्छा।

[मि० सेठ समाचार-पत्र पढ़ना शुरू कर देते हैं। दरवाजा जोर से खुलता है और बलराम का बाज़ू थामे श्रीमती सेठ बगूले की भाँति प्रवेश करती है]

श्रीमती सेठ—मैं कहती हूँ, आप बच्चों से कभी प्यार करना भी सीखेंगे। जब देखो, घूरते, झिगड़ते, डाँटते, नज़र आते हो, जैसे बच्चे अपने न हों, पराये हों। भला आज इस बेचारे से क्या अपराध हो गया जो पीटने लगे ? देखो तो सही अभी तक कान कितना लाल है।

मि० सेठ—(पूर्ववत् समाचार-पत्र पर दृष्टि जमाये हुए) तुम्हें कभी बात करने का सलीका भी आयगा। जाओ इस समय मेरे पास समय नहीं है।

श्रीमती सेठ—आपके पास हमारी बात सुनने के लिए कभी वक्त होता भी है ? मारने और पीटने के लिए जाने कहाँ से समय निकल आता है ? इतनी देर से ढूँढ रही थी इसे। नाश्ता कब से तैयार था, बीसों आवाजें दीं, घर का कोना कोना छान मारा। आखिर देखा कि भूसे की कोठरी में बैठा सिसक रहा है। आखिर क्या बात हो गई थी ?

मि० सेठ—(क्रोध से अखबार को तख्त-पोश पर पटककर) क्या बके जा रही हो ? बीस बार कहा है कि इन सबको सँभाल कर रक्खा करो। आ जाते हैं सुबह दिमाग चाटने के लिए।

[श्रीमती सेठ बच्चे के दो थप्पड़ लगाती हैं, बच्चा रोता है।]

—तुझे कितनी बार कहा है, इस कमरे में न आया कर। ये बाप नहीं, दुश्मन हैं। लोगों के बच्चों से प्रेम करेंगे, उनके सिर पर प्यार का हाथ फेरेंगे, उनके स्वास्थ्य के लिए बिल पास करायेंगे, उनकी उन्नति के भाषण झाड़ते फिरेंगे और अपने बच्चों के लिए भूलकर भी प्यार का एक शब्द ज़बान पर न लायेंगे।

(बच्चे के और चपत लगाती है)

—तुझे कितनी बार कहा है, न आया कर इस कमरे में, मैं तुझे नौकर के साथ मेला देखने भेज देती (आवाज ऊँची होते होते रोने की हद को पहुँच जाती है)। स्वयं जाकर दिखा आती। तू क्यों आया यहाँ —मार खाने, कान तुड़वाने ?

मि० सेठ—(क्रोध से पागल होकर, पत्नी को ढकेलते हुए)—मैं कहता हूँ, इसे पीटना है तो उधर जाकर पीटो यहाँ इस कमरे में आकर क्यों शोर मचा दिया। अभी कोई आ जाय तो क्या हो ? कितनी बार कहा है, इस कमरे में न आया करो। घर के अन्दर जाकर बैठा करो।

(श्रीमती सेठ तुनक कर खड़ी हो जाती है।)

—आप कभी घर के अंदर आयें भी। आप के लिए तो जैसे घर के अंदर आना गुनाह करने के बराबर है। खाना इस कमरे में खाओ, टेलीफोन सिरहाने रख कर इसी कमरे में सोओ, सारा दिन मिलने वालों का ताँता लगा रहे। न हो तो कुछ लिखते रहो, लिखो न तो पढ़ते रहो, पढ़ो न तो बैठे सोचते रहो। आखिर हमें कुछ कहना हो तो किस समय कहें ?

मि० सेठ—कौन सा मैंने उसका सिर फोड़ दिया है, जो कुछ कहने

की नौबत आ गई ? ज़रा-सा उसका कान पकड़ा था कि बस आकाश सिर पर उठा लिया।

श्रीमती सेठ—सिर फोड़ने का अरमान रह गया हो तो वह भी निकाल डालिए। कहो तो मैं ही उसका सिर फोड़ दूँ।

[उन्मादियों की भाँति बच्चे का सिर पकड़ कर तख्तपोश पर मारती है। मि० सेठ तड़ातड़ पीटते हैं।]

मि० सेठ—मैं कहता हूँ, तुम पागल हो गई हो। निकल जाओ यहाँ से। इसे मारना है तो उधर जाकर मारो, पीटना है तो उधर जाकर पीटो, सिर फोड़ना है तो उधर जाकर फोड़ो। तुम्हारी नित्य की बकझक से तंग आकर मैं इधर एकान्त में आगया हूँ। अब यहाँ आकर भी तुमने चीख़ना-चिलाना शुरू कर दिया है! क्या चाहती हो ? यहाँ से भी चला जाऊँ ?

श्रीमती सेठ—(रोते हुए) आप क्यों चले जायँ ? हम ही चले जायँगे !

(भर्राई हुई आवाज़ में नौकर को आवाज़ देती है)

"रामलखन, रामलखन !"

रामलखन—जी बीबी जी ।

(प्रवेश करता है)

श्रीमती सेठ—जाओ। जाकर ताँगा ले आओ। मैं मायके जाऊँगी।

(तेजी से बच्चे को लेकर चली जाती है। दरवाजा जोर से बंद होता है)

मि० सेठ—बेवकूफ़ !

(आरामकुर्सी पर बैठ कर टाँगें तखतपोश पर रख देते हैं और पीछे को लेटकर अखबार पढ़ने लगते हैं। टेलीफोन की घंटी बजती है)

मि० सेठ—(वहीं से चोंगा उठाकर कर्कश स्वर में) हेलो ! हेलो !... नहीं, यह ३८१२ है, ग़लत नंबर है।

(बेजारी से चोंगा रख देते हैं।)

"ईडियट्स"* ।

(टेलीफ़ोन की घंटी फिर बजती है)

(और भी कर्कश स्वर में) "हेलो ! हेलो !"

"कौन ? श्रीमती सरला देवी ! (उठकर बैठता है । चेहरे पर मृदुलता और आवाज़ में माधुर्य आ जाता है) माफ़ कीजिएगा, मैं ज़रा परेशान हूँ । सुनाइए, तबीअत तो ठीक है ?"

(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) "मैं भी आपकी कृपा से अच्छा हूँ । सुनाइए आपके महिला-समाज ने क्या पास किया है ? मैं भी कुछ आशा रक्खूँ या नहीं ।"

"मैं आपका अत्यंत आभारी हूँ, अत्यंत आभारी हूँ । आप निश्चय रक्खें । मैं जी-जान से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करूँगा । महिलाओं के अधिकारों का मुझ से बेहतर रक्षक आपको वर्तमान उम्मीदवारों में कहीं नज़र न आयेगा ।......"

(पर्दा गिरता है ।)

---

* मूर्ख ।

माँ-बाप

श्री विष्णु

पात्र

अशोक	...	कालिज का एक विद्यार्थी
यदुनाथ	...	अशोक का सहपाठी
दामोदरस्वरूप	...	अशोक का पिता
रामदास	...	यदुनाथ का पिता
अमृतराम	...	देश के प्रसिद्ध नेता
कलावती	...	अशोक की माँ
जगवन्ती	...	यदुनाथ की माँ
अनिता	...	अशोक की बहन

डाक्टर, अनवर, शमशेर, राजेन्द्र आदि कुछ युवक

प्रथम दृश्य

[एक छोटे कस्बे में एक विशाल भवन का भीतरी भाग। अलग-अलग उसमें अनेक कुटुंब बसते हैं। इस समय वहाँ सन्नाटा है। कभी-कभी किवाड़ खुलने या बोलने की आवाज सुन पड़ती है।

इसी भवन के ऊपरी भाग में एक छोटा-सा कमरा है। अनुपात से सामान उसमें बहुत है। कपड़ों के तीन ट्रंक, दो चीड़ की बेड, साइड टेबुल तीन मोढे और तीन चारपाई। ऊपर की दीवार पर केवल नये साल का एक कैलेण्डर लटका है। एक अलमारी है; उसमें कुछ पुस्तकें, टीन के डब्बे, दो चाय दानियाँ और दो-तीन गिलास हैं। ऊपर आले में सस्ती टायमपीस पौने आठ बजा रही है।

कमरे के बीच में तीनों चारपाइयाँ पास-पास बिछी हैं। बिछावन साधारण है। दरवाजे के पास वाली चारपाई पर एक स्त्री अनमनी-सी बैठी है। उसका रंग गोरा और आकृति सुन्दर है। उमर लगभग ४५ है। दूसरी चारपाई पर एक पुरुष आँखें बन्द किये लेटा है। उसे ज्वर चढ़ा है। क्षण-क्षण में जाग कर वह स्त्री की ओर देख लेता है। फिर लम्बी साँस लेकर आँखें मीच लेता है। उसकी आयु ५७ के ऊपर है। तीसरी चारपाई पर एक लड़की कम्बल ताने गहरी नींद में सोई है। सहसा स्त्री चौंक कर उठती है। नीचे कहीं तीन-चार आदमी बोलते सुन पड़ते हैं।]

स्त्री—(खुश होकर)—जान पड़ता है अशोक आ गया !

पुरुष—(आँखें खोल कर) अशोक आ गया है ? कहाँ है ?

स्त्री—आप उठे क्यों ? लेट जाइए। मैं देखती हूँ।

(स्त्री शीघ्रता से चली जाती है। पुरुष उसी तरह बैठा रह जाता है। स्त्री फिर आती है।)

स्त्री—(घबरा कर) आप अपनी कुछ भी चिंता नहीं करते। अशोक नहीं आया है। राम बाबू देहली जा रहे हैं। अशोक की छुट्टियाँ आज से शुरू होती हैं। शायद कल आयेगा।

(वे चुपचाप आँखें बन्द कर लेते हैं। स्त्री अपनी खाट पर आ बैठती है।)

पु०—(आँखें खोल कर) सुनती हो ?

स्त्री—क्या जी ?

पु०—पंडित रामसेवक ने अशोक का वर्ष-फल बनाया है। कहता है इस वर्ष ग्रह बहुत सुंदर हैं, जल्दी ही उसका नाम संसार भर में फैल जायगा।

स्त्री—(प्रसन्नता से भर कर) सच !

पु०—पंडित रामसेवक माने हुए ज्योतिषी हैं। उनकी बात झूठ

नहीं हो सकती और देखो न, अभी से उसका नाम अखबारों मे छपने लगा है।

[कहते-कहते पुरुष की छाती उमड़ती है, बोल नहीं सकता]

स्त्री—(श्रद्धा से) पुत्र के भाग के साथ माँ-बाप की किस्मत जुड़ी होती है।

पु०—(गद्‌गद्‌ होकर) कुछ भी हो दुनिया, इस बात को जान लेगी कि दामोदरस्वरूप ने आप मुसीबतें उठायीं परंतु लड़के को शिक्षा देने में कसर न रखी।

[इसी समय पास की चारपाई पर लड़की बड़बड़ा उठती है]

स्त्री, पुरुष—(एक साथ चौंक कर) क्या है अनिता ? क्या है बेटी ?

लड़की—(नींद में) भइया...(जोर से) भइया तुम कहाँ जा रहे हो ? (करुणा से) मैं तुम्हारे साथ चलूँगी, भइया (जोर से) ओ भइया......

स्त्री—(पास जाकर) अनिता-अनिता !

अनिता—(हड़बड़ा कर) माँ ?

स्त्री—क्या है बेटी ?

[अनिता उठ बैठती है। वह लगभग १५ साल की सुन्दर लड़की है। घबराहट के कारण इधर-उधर देखती है। पर माँ को देखकर ढाढ़स होती है]

स्त्री—(पास बैठ कर) सपना देखती थी बेटी ! क्या था।

अनिता—बड़ा बुरा सपना था, माँ ! भइया न जाने कहाँ चले गये ?

स्त्री—(मुसकरा कर) कहाँ चले गये, अनिता !

अनिता—माँ ! एक वाटिका में मैं और भइया बैठे थे कि एक युवक ने आकर कहा—'अशोक ! लड़ाई आरम्भ हो गयी। वे पागल हो उठे हैं। 'आओ हम चलें' भइया उसी वक्त दौड़ पड़े। मैंने कहा—'कौन

लड़ रहा है, भइया ?' भइया नहीं बोले। और वे चले गये, उसी तरह नंगे पाँव और निहत्थे ! (कुछ रुक कर) भइया नहीं आये, माँ !

स्त्री—कल सवेरे आयेगा, बेटी !

पु०—(सोचकर) सपने का फल अच्छा होगा ! डरने की बात नहीं।

स्त्री, अनिता—(एक साथ) सच ! अच्छा होगा ?

पु०—हाँ ऐसे सपनों से उमर बढ़ने का योग होता है।

अनिता—तब तो ठीक है माँ ! (मुड़कर) ज्वर कैसा है पिताजी ?

पु०—(हँसकर) उतर जायगा बेटी ! (कुछ आहट पाकर ऊपर देखते हैं) रामदास, आओ रामदास ! कैसे आये ?

रामदास—ज्वर उतरा, भइया !

दामोदरस्वरूप—उतर जायगा ! हाँ यदु आया क्या ?

रा०—वही तो पूछता था ! अशोक भी नहीं दिखाई पड़ता। क्या बात है ? घर में तो रो-रो कर पागल हो रही है।

दा०—तुम्हारी स्त्री बड़ी कच्ची है ! अरे ! वे क्या बालक हैं जो खो जायँगे !

रा०—यह तो मैं भी जानता हूँ भइया ! पर वह नहीं सुनती ! कहती है—तुम जाओ !

स्त्री—वह माँ है, रामदास ! माँ का दिल बड़ा पापी होता है ?

रा०—और तुम क्या हो भाभी ?

दा०—अरे रामदास ! यह कम नहीं है। घंटों से गाड़ी की गड़गड़ाहट कानों में गूँज रही है। यह अनिता तो सोते-सोते भी भइया-भइया चिल्ला रही थी (हँसता है)

रा०—(पिघल कर) भइया ! साल में एक बार तो आते हैं !

[दामोदरस्वरूप आँखें मीच लेता है। रामदास उठ कर चला जाता है। अनिता फिर मुँह लपेट कर लेट जाती है। केवल स्त्री (कलावती)

उसी तरह बैठी रहती है। घड़ी में नौ बजे हैं। वह झुक कर चारपाई के नीचे से एक टोकरा निकाल लेती है। उसमें सूत की कुकड़ियाँ और अटेरन रखा है। कलावती चुपचाप सूत अटेरती है]

[पटाक्षेप]

दूसरा दृश्य

[समय सन्ध्या के पाँच बजे हैं। वही विशाल भवन। नीचे के एक दालान में कलावती रसोई के प्रबन्ध में लगी है। अशोक अब तक नहीं आया। चिट्ठी आयी है "कि शहर में अशान्ति है, हिन्दु-मुस्लिम लड़ाई का भय है। आप लोग चिन्ता न करना हमें बिलकुल डर नहीं है।" पर यहाँ सब चिन्ता कर रहे हैं। यदु की माँ (जगवन्ती) तो रो-रो कर पागल हो रही है। कलावती भी उद्विग्न है। दिल उसका भी धक्-धक् कर रहा है। उसी समय जगवन्ती वहाँ आती है। वह ४० के लगभग है। रोते-रोते उसका चेहरा फीका पड़ रहा है]

जगवन्ती—तुमने सुना, भाभी ! वहाँ लड़ाई हो रही है। अब क्या होगा ?

कलावती—ठीक होगा, जगवंती ! कॉलेज तो शहर से दूर है।

जगवन्ती—तुम नहीं जानती भाभी, कॉलेज दूर होगा पर वे जरूर गये होंगे।

कलावती—तुम आप ही सोच लेती हो कि वे गये होंगे। कॉलेज-वाले क्या उन्हें जाने देंगे ?

जगवन्ती—चाहती तो मैं भी हूँ कि वे न गये हों पर भाभी, मन नहीं मानता। मैं क्या करूँ ? (रोने लगती है)

कलावती—(हँस कर) अरे तुम रोने लगीं ! कितनी कच्ची हो तुम ! (रामदास को देखकर) क्या है जी ? क्या खबर आई ?

रामदास—(बोलते हुए हाँपता है) अखबार आया है !

जगवन्ती, कलावती—(एक साथ) अखबार ! क्या लिखा है अखबार में ?

रामदास—(पढ़ता है)······शहर में बहुत ज़ोर का दंगा हो गया है।

कलावती—ओह !

जगवन्ती—कॉलेज का कुछ नहीं लिखा !

रामदास—(उसी तरह पढ़ता हुआ) नगर कांग्रेस कमेटी दंगा रोकने का प्रयत्न कर रही है। उसने सरकार के साथ सहयोग किया है, लेकिन सब से बढ़ कर कॉलेज की पार्टी है······।

कलावती, जगवन्ती—(एक साथ काँप कर) कॉलेज की पार्टी···

रामदास—(उसी तरह) मानवता के पुजारी १५ नव-युवक पागलों की तरह आग में बढ़े चले जा रहे हैं। उन्होंने सैकड़ों बे गुनाह आदमियों को मरने से बचा लिया है। उनका सरगना एक खूबसूरत और तगड़ा जवान है। उसका नाम अशोक है···।

कलावती—(काँपकर) अशोक ! मेरा अशोक !!

जगवन्ती—लेकिन यदु का नाम नहीं है। वह ज़रूर उसके साथ होगा। वह अशोक को नहीं छोड़ सकता।

कलावती—(अनसुना करके) अशोक अब नहीं आयेगा। अशोक का नास······

[वह बोल नहीं सकती, उसका हृदय उमड़ कर बह पड़ता है]

रामदास—(ढाढ़स के स्वर में) भाभी। रोती हो ! नहीं भाभी, जो पुण्यात्मा हैं, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।

जगवन्ती—भगवान्।···भाभी मैं कहती थी मेरा दिल घबड़ा रहा है। मैं जानती थी। बेटा माँ के दिल ही में तो रहता है। भाभी ! तुम रोती हो लेकिन मैं क्या करूँ···मैं क्या करूँ ? (रामदास से) सुनते हो मैं जाऊँगी········।

रामदास—कहाँ जाओगी ? वहाँ के रास्ते बंद हैं !

कलावती, जगवन्ती—(एक साथ) रास्ते बंद हैं !

रामदास—हाँ भाभी ! अब तो हमें परमेश्वर से ही प्रार्थना करनी चाहिए।

जगवन्ती—(रोती हुई) परमेश्वर·· परमेश्वर···!

कलावती—(हठात् स्वस्थ होकर) रोओ मत, जगवन्ती ! रोना पाप है।

(अनिता का हाँपते-हाँपते प्रवेश)

अनिता—माँ ! क्या भइया लड़ाई में चले गये।

कलावती—(दृढ़ता से) हाँ बेटी ! तुम्हारे भइया ने यदु के साथ सैंकड़ों जानें बचायीं। वे सकुशल हैं।

अनिता—(रामदास से) सचमुच क्या चाचाजी ?

रामदास—सच बेटी ! अखबार है तू पढ़ ले न ?

(अनिता अचरज से पढ़ती है। आँखों में पानी भर आता है। जगवन्ती पागलों की तरह उसे देखती है। रामदास भी उमड़ते हुए हृदय से आँसू रोकता है। केवल कलावती मुसकराती है। अनिता एकदम पढ़ना बंद कर देती है)

अनिता—चाची तुम रोओ मत। मैं पिताजी से जाकर कहती हूँ कि भइया ने बहुत सुन्दर काम किया है।

(अनिता झपट कर आती है। कलावती और रामदास भी पीछे-पीछे जाते हैं)

जगवन्ती—(रोती हुई) ये लोग कितने कठोर हैं पर मैं क्या करूँ ! जिस दिन अशोक और यदु मुझे आकर प्रणाम करेंगे उसी दिन मैं समझूँगी परमेश्वर ने बड़ा काम किया है। नहीं तो······नहीं······ ओह मैं भी क्या करूँ ?

(वह फूट-फूट कर रो उठती है। परदा गिरता है)

तीसरा दृश्य

(समय प्रातः ८ बजे। स्थान दामोदरस्वरूप का वही कमरा। वे लेटे हैं, तीन ही दिन में उनकी दशा एक जन्मरोगी की सी हो गयी। मुख पीला पड़ गया है। उठते-उठते गिर पड़ते हैं। पास ही कलावती बैठी है।)

दामोदरस्वरूप—रामसेवक पंडित की बात कितनी ठीक हो रही है। बच्चा-बच्चा अशोक का नाम लेता है।

कलावती—ऐसे पुत्र को पाकर हम धन्य हुए। न जाने हमने कितने पुण्य किये होंगे···।

दामोदरस्वरूप—मैं चाहता हूँ उड़ कर उसके पास पहुँच जाऊँ और छाया की तरह उसके साथ लगा रहूँ (हठात् चौंक कर) कौन ?

(आवाज़ सुन पड़ती है) माँ, पिताजी ! यदु भइया आये हैं। माँ·········

कलावती और दामोदरस्वरूप—(एक साथ) अनिता ! यदु !!

(अनिता का प्रवेश, वह हाँफ रही है)

अनिता—माँ, पिताजी ! अभी यदु भइया आये हैं। वे कहते हैं, भइया कुशल हैं।

कलावती और दामोदरस्वरूप—(एक साथ) कहाँ है यदु ? यदु कहाँ है ? (उठने की चेष्टा करते हैं।)

अनिता—नहीं, नहीं ! आप उठिए नहीं, पिताजी, वे यहीं आ रहे हैं।

(यदु का प्रवेश। जगवन्ती और रामदास भी हैं। यदुनाथ २० वर्ष का साँवला युवक है। उसके हाथ में चोट लगी है पर वह खुश है। सबको प्रणाम करता है।)

कलावती और दामोदरस्वरूप—(एक साथ मिलकर) तुम जुग-जुग जिओ, बेटा ! जीते रहो, बेटा !

दामोदरस्वरूप—अशोक कैसा है, यदु ?

यदुनाथ—सब ठीक है, ताऊजी ! उन्होंने ही मुझे भेजा है कि

आप लोग दुखी न हों स्टेशन तक साथ आये थे। शीघ्र ही शांति होने पर वे भी आवेंगे।

दामोदरस्वरूप—अभी तक लोग लड़ रहे हैं? कैसे हैं वहाँ के आदमी!

यदुनाथ—आदमी तो हमारे जैसे ही हैं? पर कभी-कभी आदमी के भीतर का राक्षस जाग पड़ता है।

रामदास—परमात्मा की लीला है, बेटा! जो वह चाहता है वही होता है।

यदुनाथ—(एकदम तेज होकर) आपके इस परमेश्वर ही ने तो सब अनर्थ किया है। जो परमेश्वर आदमी को आदमी का रक्त पीने की प्रेरणा दे उसे हम नहीं मानते। इस परमेश्वर ने इतनी सुन्दर पृथ्वी पर इतने भयानक आदमी क्यों पैदा किये......?

रामदास—(सकुचाकर) लेकिन बेटा! उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। और वह सब भले के लिए करता है।

यदुनाथ—(उसी तरह) यदि वह सब भले के लिए करता है तो क्यों आप लोग पागलों की तरह रोते हो। क्यों नहीं परमेश्वर का विधान मान कर वीर पुरुषों की तरह उत्सव मनाते कि तुम्हारे पुत्रों ने मरती हुई मानवता की रक्षा की है?

दामोदरस्वरूप, रामदास और कलावती—(एक साथ) तुम क्या कहने लगे, बेटा। नहीं-नहीं, बेटा पागल यदु क्या बकने लगा!

जगवन्ती—(रोती—रोती) तू क्या जाने माँ-बाप का दिल कैसा होता है?

यदुनाथ—जानता हूँ माँ! मेरे लिए तुम्हारे प्राण निकल रहे हैं। अशोक को माँ तुम चाहती होंगी पर माँ क्या तुम जानती हो, हमारे साथ और कितने माँ के लाल हैं। उनमें सिक्ख हैं, मुसलमान हैं। उनके लिए क्या तुम्हारी आँखों से पानी का एक बूँद भी टपका? और जाने दो माँ यदि मैं आकर तुम से कहता—माँ! आदमी आदमी के खून से होली खेल रहा है। मैं उसे रोकने जा रहा हूँ तो क्या तुम जाने देतीं?

(सब एकदम चुप रह जाते हैं। सन्नाटा छा जाता है)

यदुनाथ—बोलो पिताजी ! क्या तुमने हमें कायर नहीं बना डाला। तुम्हारी करुणा, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी विशालता सब स्वार्थ की क्षुद्र सीमा में बँधे हैं।

कलावती—यदु ! तुम क्या कहने लगे ? तुम्हें किसने बताया कि हम नाराज़ हैं। हमें तुम पर इतना गर्व है कि छाती फटी जाती है। बेटा ! ये प्रेम और अभिमान के आँसू हैं लेकिन कहो तो तुमने क्या किया ?

यदुनाथ—(शांत होकर) हमने क्या किया यह हम नहीं जानते। अशोक ने जो कहा वही किया। वे आयेंगे तो सुना देंगे।

कलावती—अशोक सुनावेगा ? नहीं यदु ! वह भी क्या बोलना जानता है ?

यदुनाथ—(नम्र होकर) तुम ठीक कहती हो, अशोक भइया बोलना नहीं जानते। लेकिन ताई ! कर्मशील पुरुषों के वाणी होती ही नहीं, अच्छा मैं यही कहने आया था कि हम सब कुशल हैं, आप लोग चिन्ता न करें। मैं अभी जाऊँगा !

जग०, राम०, दामो०, अनि०—(एक साथ) अभी ! अभी जाओगे ! इसी वक्त ! अभी !

यदुनाथ—हाँ अभी ! अधिक देर नहीं ठहर सकता। उन लोगों को छोड़ कर क्या मुझे यहाँ बैठना सोहता है।

जगवन्ती—लेकिन बेटा.........!

यदुनाथ—लेकिन-वेकिन कुछ नहीं माँ ! मैं ज़रूर जाऊँगा। तुमने मुझे देख लिया। दूसरे बेटों की माताएँ भी तो तरस रही होंगी ! पिताजी......!

रामदास—(चौंककर) मैं कहता था कि गाड़ी शाम को...

यदुनाथ—(बीच ही में) यह कैसे हो सकता है, पिताजी ! मैं इसी गाड़ी से जाऊँगा।

रामदास—(उद्विग्नता को रोककर) अच्छा, अच्छा ! मैं अभी जाता हूँ (एक क्षण रुक कर) मैं कहता था कि मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ तो...... ।

जगवन्ती—हाँ, हाँ, तुम ज़रूर चले जाओ।

यदुनाथ—नहीं पिताजी ! केवल मैं जाऊँगा और अभी जाऊँगा। आप अभी ताँगा मँगा दीजिए !

(ताँगा मँगाने के लिए रामदास जाता है)

यदुनाथ—(हँसकर) इस धर्म ने आदमी को आदमी का खून पीना सिखाया है। इस ईश्वर ने ही हमको कायर बना दिया है !

जगवन्ती—लेकिन मैं कहती थी तू खाना तो खा ले।

यदुनाथ—नहीं माँ ! (एक क्षण रुक कर) अच्छा ! चलो !

(जगवन्ती जल्दी से चली आती है)

यदुनाथ—(उठकर)—मैं अब जाऊँ ?

दामोदरस्वरूप—(अनसुनी करके) यदु बेटा ! क्या सचमुच अशोक का नाम लोग श्रद्धा से लेते हैं ?

यदुनाथ—हाँ ताऊजी ! अशोक भइया ने वह काम किया है जो बड़ी-बड़ी आत्माएँ नहीं कर सकतीं।

दामोदरस्वरूप—सचमुच तुम ऐसा समझते हो यदु !

यदुनाथ—मैं कहता हूँ अशोक भइया सदा के लिए अमर हैं।

दामोदरस्वरूप—(गद्‌गद् होकर) तुम जुग-जुग जीओ, बेटा ! (एक क्षण रुककर) कुछ भी हो दुनिया कहेगी दामोदर गरीब था लेकिन सन्तान के प्रति उसने अपना कर्तव्य पूरा किया।

(तभी रामदास की आवाज़ सुनाई देती है—'यदु ! ताँगा आ गया है,' यदु उठता है। अनिता और कलावती भी उठती हैं)

यदुनाथ—नमस्कार ताऊजी !

दामोदरस्वरूप—परमात्मा तुम्हें कुशल से रखे, बेटा ! तुम जल्दी लौट आना।

(कलावती उसे छाती से भर कर माथा चूम लेती है। आँखों में पानी भर आता है ! यदु चुपचाप बाहर निकल आता है। केवल अनिता साथ आती है)

अनिता—यदु भइया ! तुम उन सबसे कहना कि तुम्हारी बहिन अनिता को तुम जैसे भाइयों पर बड़ा गर्व हो रहा है। वहाँ से लौटो तो एक बार यहाँ अवश्य आना—मैं बाट देखूँगी, अच्छा !

(अनिता बड़ी शीघ्रता से यह सब कुछ कह गयी उसकी आँखें भर आयीं पर वह मुसकरा उठी। यदु उसे कुछ कहे कि वह झपट कर लौट गयी वह देखता ही रह गया।)

(पटाक्षेप)

चौथा दृश्य

[वही विशाल भवन ! वही दामोदरस्वरूप का कमरा, अब उसमें केवल एक चारपाई है। उस पर उनका एकमात्र बेटा अशोक लेटा है। उसे खूब तेज़ बुखार चढ़ा है। उसके सिर, हाथ और पैरों पर पट्टियाँ बँधी हैं ! पट्टियों पर जगह-जगह लहू चमक आता है। उसकी आँखें बन्द हैं।

दामोदरस्वरूप कुण्ठित, मलिन उसके सिरहाने की तरफ फर्श पर बैठे हैं। कलावती पागल सी बेटे को देख रही है, अलग कोने में अनिता है जो क्षण में गम्भीर और क्षण में द्रवित हो उठती है !

फर्श पर दामोदर के पास रामदास, जगवन्ती, यदु और पाँच छः नवयुवक बैठे हैं। वे सब दुःख और सुख के फाँसे अशोक की ओर देख रहे हैं।

डॉक्टर भी है। वह गौर से अशोक की परीक्षा कर रहा है]

डॉक्टर—(गम्भीर होकर) मैं इन्हें होश में ला सकता हूँ परन्तु...।

दामोदरस्वरूप—परन्तु क्या डॉक्टर साहब।

डॉक्टर—मैं कहता था रात गुज़र जाती तो ठीक था।

दामोदरस्वरूप—डाक्टर साहब! मैं गरीब हूँ पर अशोक के लिए जो कहोगे वही करूँगा। जो माँगोगे वही दूँगा। दुनिया नहीं कह सकेगी कि दामोदर बेटे के लिए कुछ करने में झिझका था।

डॉक्टर—नहीं! मैं यह नहीं सोचता। अशोक के लिए मैं कुछ कर सका तो धन्य हूँगा।

एक युवक—डाक्टर! मुझे अचरज है, भइया के प्राण कहाँ अटके हैं।

दूसरा युवक—ये अकेले ही तो स्टेशन से लौट रहे थे कि पाँच सौ मज़हबी दीवानों ने घेर लिया।

तीसरा युवक—डाक्टर! जिसने सैकड़ों जानें बचाईं उसका यह अन्त!

(सहसा अशोक आँखें खोल लेता है)

अशोक—(क्षीण स्वर में) माँ!

कलावती—(अतिशय गद्‌गद् होकर) हाँ बेटा।

अशोक—कौन रोता था, माँ! तुम थीं? तुम रोओ नहीं। मैं अच्छा हो जाऊँगा और न भी हुआ तो भी तुम रोना मत। एक के बदले असंख्य अशोक तुम्हें मिलेंगे, माँ?

कलावती—मैं नहीं रोती, बेटा! मैं रोऊँगी क्यों?

अशोक—अनिता कहाँ है?

अनिता—(चौंक कर) भइया!

अशोक—अनिता! तूने बुलाया था न? हम आये हैं, क्या कहती है तू? आरती करनी होगी? जा बुला ला अपनी सखियों को और अपने जी की निकाल ले......!

[अशोक फिर आँखें बन्द कर लेता है। देश के प्रसिद्ध नेता डॉक्टर अमृतराम प्रवेश करते हैं।]
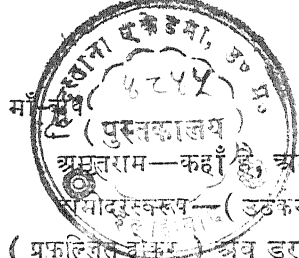
अमृतराम—कहाँ है, अशोक ?

दामोदरस्वरूप—(उठकर) इधर है इधर । आप, आप यहाँ आइए (प्रफुल्लित होकर) अब डर नहीं है । आप आये हैं । परमेश्वर ने आपको भेजा है, आप ज़रूर अशोक को बचा लेंगे ।

अमृतराम—आप अशोक के पिता हैं ?

दामोदरस्वरूप—(गर्व से) जी हाँ ! मैं अशोक का पिता हूँ । वह माँ है; वह बहिन अनिता है । मैं अशोक के लिए कुछ भी उठा न रखूँगा !

[अमृतराम गम्भीर होकर अशोक की जाँच करते हैं । उनका चेहरा चिन्तित हो जाता है ।]

अमृतराम—अच्छा हो यह रात शांति से बीत जाय ।

अशोक—पिताजी ! (अशोक आँखें खोल देता है)

दामोदरस्वरूप—तुम बोलो मत, बेटा !

अशोक—यदु कहाँ है ?

यदुनाथ—(आगे बढ़ कर) मैं यहाँ हूँ ।

अशोक—तुम जानते हो यदु, हमने क्या प्रतिज्ञा की थी ? मेरे माँ-बाप को मालूम न होने देना कि अशोक अब दुनिया में नहीं है ।

यदुनाथ—(चुपचाप नीची गरदन करके आँसू टपकाने लगता है) तुम ऐसा क्यों कहते हो अशोक !

(अशोक नहीं बोलता । सब फिर चिन्तातुर होकर एकदूसरे को देखते हैं)

अमृतराम—(हठात् चौंक कर) पक्षी उड़ना चाहता है !

कलावती, दामोदरस्वरूप, अनिता—(घबराकर एक साथ) क्या आ-आ ?

रामदास, जगवन्ती—(एक साथ) आप देखिए तो डॉक्टर साहब !!

अमृतराम—(सिर हिलाकर) देख तो रहा हूँ, खेल समाप्त हो चुका है । एक दिव्यात्मा पृथ्वी पर उतरी थी, आज लौट गयी !

(सब हठात् विचल उठते हैं। कलावती हा-हा करके अशोक से लिपट जाती है। जगवन्ती उसे सम्हालती है)

दामोदरस्वरूप—(सहसा जाकर) क्या करती हो कलावती! रोती हो! अशोक ने कहा था रोना मत, और तुम अशोक की बात टालती हो।

(कलावती नहीं सुनती। उसकी छाती फट गयी है उसकी वाणी कमरे, दिवारों को कँपा देती है। सब सोये हुए से उठते हैं। अमृतराम बाहर निकल जाते हैं)।

कलावती—(बिलखती हुई) मैं माँ हूँ माँ। मेरा सिर, मेरा माँस…

दामोदरस्वरूप—लेकिन मैं बाप हूँ। अशोक का बाप हूँ। अशोक वीर पुत्र था मैं वीरपुत्र का वीरबाप बनूँगा! सुनो यदु, रामदास अनिता, अनवर, शमशेर, राजेन्द्र! तुम सब सुनो। मुझे अशोक पर गर्व है! मैं दुनिया को कहने का मौका न दूँगा कि अशोक जैसी महान् और दिव्य आत्मा का पिता दामोदरस्वरूप रोया था। मैं हँसूगा!

(सचमुच दामोदरस्वरूप बड़े जोर से हँस पड़ता है)

अनिता—(जोर से रोकर) पिताजी! पिताजी!!

दामोदरस्वरूप—(अनिता को छाती में भर कर) अशोक की बहिन होकर रोती हो! तुझे अशोक चाहिए न? देख कितने अशोक हैं। यदु, अनवर आदि-आदि सब तेरे अशोक हैं और अनिता यह अखंड भारत अनेक अशोकों से भरा पड़ा है, फिर तू क्यों रोती है?

(दामोदरस्वरूप फिर हँस पड़ते हैं। सब युवक हतप्रभ उस दुबले-पतले अधेड़, पुरुष के साहस को देखते हैं। सहसा यदु आगे बढ़ कर कलावती को उठा लेता है)

यदुनाथ—माँ! तुम हम सब की माँ हो! हमें आशीर्वाद दो, माँ! भारत के समस्त पुत्र अशोक के पद-चिह्न पर चल सकें।

शम०, रामदास, अनिता, और अनवर—(एक साथ बोलते हैं)

माँ ! हम मानव के रक्त को व्यर्थ न जाने देंगे ।

माँ ! मानव रक्त से हम नयी मानवता को जन्म देंगे ।

माँ ! हम सारे हिन्दुस्तान में अशोक ही अशोक पैदा कर देंगे ।

माँ ! तुम नये हिन्दुस्तान की मां हो !

(सहसा कलावती उठकर उन्हें देखती है , उसकी आँखें चमक उठती हैं । दामोदरस्वरूप धीरे-धीरे अशोक के बालों में उँगली फेरते हैं । अमृतराम अन्दर आते हैं ।)

अमृतराम—बाहर अपार जनता है यदु ! अशोक को ले चलो !

दामोदरस्वरूप—(उठकर) चलिए डाक्टर साहब, हम तैयार हैं ।

(और वे स्थिरगति से बाहर चले जाते हैं । उन्होंने कुहनी उठाकर आँखें पोंछ ली हैं । रामदास उनके पीछे जाता है । उसकी आंखें गीली हैं ।)

(पर्दा गिर जाता है)

मानव-मन

पात्र

पद्मा ... २१, २२ वर्ष की एक पतिपरायणा युवति
भारती ... पद्मा की पड़ोसिन, एक विधवा स्त्री
कृष्णवल्लभ ... पद्मा के पति
मुनीम, समाधानी

उपक्रम

स्थान—कृष्णवल्लभ के मकान का बरामदा

समय—प्रातःकाल

[बरामदा आधुनिक ढंग का है और उसी तरह सजा भी है। पीछे की दीवाल दिखती है और दो तरफ खंभों पर डाटें। दीवाल गुलाबी रंग से रँगी है उस पर भी श्रीनाथ जी, यमुना जी और श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओं के चित्र टँगे हैं। डाटों में से बग़ीचे का कुछ हिस्सा दिखाई देता है जो उगते हुए सूर्य के प्रकाश से रँग रहा हैं। बरामदे के सीलिंग से बिजली की बत्तियाँ झूल रही हैं और जमीन पर, जो संगमरमर से पटी है, अनेक सोफे, कुर्सियाँ और टेबिलें सजी हैं। एक कुर्सी पर पद्मा बैठी हुई है और अपने सामने की टेबिल पर रखी हुई एक खुली चिट्ठी ध्यान से पढ़ रही है। पद्मा करीब २१, २२ साल की साधारण क़द और सुडौल शरीर की सुन्दर स्त्री है। रंग गोरा है। रेशमी साड़ी ब्लाउस और रत्नजटित आभूषण पहने है। मस्तक पर लाल टिकली है। और उसी के नीचे दोनों भवों के बीच में श्रीनाथ जी का पीला चरणामृत लगा है। भारती का प्रवेश उसकी

अवस्था करीब ४० वर्ष की है। वह लंबे कद की दुबली पतली साधारण तथा सुन्दर स्त्री है। रंग गेहुआँ है। सूती साड़ी और शलूका पहने है। वेषभूषा से विधवा जान पड़ती।]

भारती—(पद्मा के निकट आते हुए) बड़े ध्यान से क्या पढ़ रही हो, बहन ?

पद्मा—(चौंककर) ओ भारती बहन, (खड़े होकर) आओ बैठो, बहन ?

[भारती और पद्मा दोनों कुर्सियों पर बैठ जाती हैं।]

भारती—क्या पढ़ रही थीं ?

पद्मा—उनकी चिट्ठी आई है।

भारती—तभी इतनी ध्यानावस्थित थीं कि मेरी बोली सुनकर भी चौंक पड़ीं।

पद्मा—उनका पत्र मुझे ध्यानावस्थित करने को काफ़ी है; यह मैं मानती हूँ, पर ध्यान-मग्न होने का एक और भी सबब था।

भारती—क्या ?

पद्मा—उस पत्र के समाचार।

भारती—क्यों, उनके मित्र की तबीयत कैसी है ?

पद्मा—वैसी ही है, क्षय ऐसी बीमारी नहीं, जो जल्दी अच्छी हो जाय, या बिगड़ जाय।

भारती—फिर वहाँ से और क्या समाचार आ सकते हैं ?

पद्मा—सुन लो, पत्र ही सुना देती हूँ। (पत्र उठाकर पढ़ते हुए) "तुम्हें यहाँ का हाल पढ़कर आश्चर्य हो सकता है, पर इस ज़माने में इस तरह की चीज़ें कोई ताज्जुब की बात नहीं हैं......

भारती—किस तरह की चीज़ें ?

पद्मा—वही तो पढ़ती हूँ, सुनो। (पत्र पढ़ते हुए) "इस दफ़ा भाभी जी का विचित्र क़िस्सा है। बृजमोहन की तबियत वैसी ही

होते हुए भी, उनके पलंग पर पड़े रहने पर भी, इधर उधर हिलने डुलने की ताक़त न होने पर भी, भाभी जी का पुराना प्रोग्राम फिर लौट आया है। नित्य प्रातःकाल एक घंटा टब और शावर बाथ में लगता है। फिर बाल सँवारने, पाउडर लगाने, लिपस्टिक और नेल पेण्ट को काम में लेने में काफ़ी वक्त लग जाता है। रोज़ नई साड़ी और ब्लाउस पहना जाता है। हर दिन शाम का समय क्लब में जाता है और अगर किसी दिन गार्डन पार्टी या डिनर या डान्स का न्योता आ गया तब तो रात को भी लौटने का कोई निश्चित वक्त नहीं रहता। वृजमोहन को सम्हालते हैं डाक्टर और जहाँ तक भाभी का सम्बन्ध है वहाँ तक एक दफ़ा वृजमोहन की तबीयत पूछ लेने से उनके कर्तव्य की समाप्ति हो जाती है।" (पत्र टेबिल पर रखकर भारती की तरफ देखते हुए) कहो, बहन, पत्र के समाचार ध्यानावस्थित कर देने के लायक हैं या नहीं ?

भारती—(गंभीरता से) तुम्हें इन समाचारों से अचम्भा हुआ है ?

पद्मा—अचंभा ! बड़े से बड़ा अचंभा जो दुनिया में हो सकता है।

भारती—वृजमोहन जी कितने दिन से बीमार हैं ?

पद्मा—कोई दो साल हो गये होंगे।

भारती—और उनकी पत्नी का और उनका बीमारी के पहले कैसा सम्बन्ध था ?

पद्मा—अच्छे से अच्छा। दोनों कालेज के प्रेमी थे और शादी प्रेम के परिणाम-स्वरूप हुई थी। तभी तो भाभी जी का यह व्यवहार और भी आश्चर्य पैदा करता है।

[भारती चुपचाप कुछ सोचने लगती है। पद्मा उसकी ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

भारती—कृष्णवल्लभ जी पहले पहल वृजमोहन जी को देखने गये हैं ?

पद्मा—नहीं, एक दफ़ा उनकी बीमारी के शुरू में गये थे।

भारती—उस समय भाभी जी का क्या हाल था?

पद्मा—इसके ठीक विपरीत। उस वक्त बृजमोहन जी की बीमारी उनके दिवस की चिंता और रात्रि का स्वप्न थी। उनकी दिनचर्या बृजमोहन जी के नजदीक बैठे बैठे चौबीस घंटे गुज़ारना था। डाक्टरों और नर्सों के रहते हुए वे ही उन्हें दवा देती थीं वे ही उनका टेंप्रेचर लेती थीं। वे ही अपने हाथों उनका सारा काम करती थीं। तभी............तभी तो अब भाभी जी के व्यवहार से ताज्जुब होता है। (कुछ ठहर कर) तुम्हें इससे अचम्भा नहीं होता, बहन?

भारती—(गम्भीरता से) नहीं।

पद्मा—नहीं?

भारती—नहीं, बहन, बरदाश्त करने की भी हद होती है।

पद्मा—बरदाश्त की हद होती है?

भारती—ज़रूर। सहन-शक्ति सीमा-रहित नहीं है।

पद्मा—ऐसे मामलों में भी?

भारती—हरेक मामले में।

पद्मा—क्या कहती हो, बहन, क्या कहती हो? पति बीमार हो, खाट पर पड़ा हो, उठने बैठने, हिलने डुलने की भी ताक़त न हो और पत्नी इस तरह की वेश-भूषा करे, इस तरह के गुलछर्रे उड़ाये! कहाँ गया भाभी जी का उनके प्रति प्रेम? कहाँ गई भाभी जी की उनकी वह सेवा जो बीमारी के शुरू में थी?

भारती—तुम्हारी भाभी जी दो वर्षों तक उस तरह अपनी ज़िंदगी नहीं बिता सकती थीं जिस तरह उन्होंने बृजमोहन जी की बीमारी के शुरू में बिताना आरम्भ किया था।

पद्मा—तब तो शायद वे यह भी चाहती होंगी कि वृजमोहन जी का......वृजमोहन जी का जीवन ही......जीवन ही समाप्त हो जाय ?

भारती—संभव है।

पद्मा—(उत्तेजना से) वह स्त्री नहीं, सुना बहन, सच्ची स्त्री नहीं। पति की बीमारी में, बीमार पति की सेवा में, दो वर्ष नहीं अगर सारा जीवन भी बीत जाय तो स्त्री को रो धोकर नहीं, पर शांति से उसे बिता देना चाहिये।

भारती—यह कहना जितना सरल है, करना उतना ही कठिन है।

पद्मा—नई रोशनी की औरतों के लिए होगा, जिन्हें न धर्म पर विश्वास है और न भगवान पर भरोसा, जिनके लिये विवाह धार्मिक संस्कार नहीं पर एक इक़रारनामा है, जिनके एक जीवन में ही एक नहीं अनेक शादियाँ हो सकती हैं, एक नहीं अनेक पति मिल सकते हैं।

भारती—मैं समझती हूँ सभी के लिए।

पद्मा—(ताने से) क्या अपने अनुभव से कहती हो ?

भारती—(गम्भीरता से) सोच सकती हो। (कुछ ठहर कर) बहन, मैं नई रोशनी की नहीं हूँ। विवाह को इक़रारनामा न मान कर सच्चा धार्मिक संस्कार मानती हूँ। पति को अपना सर्वस्व मानती थी। जब उन्हें लकवा हुआ तब मैं भी खाना, पीना, नींद, आराम सब कुछ छोड़कर उनकी सेवा में दत्तचित्त हुई। उनकी बीमारी ही मेरी दिवस की चिंता और रात्रि का स्वप्न हो गई। वह मानसिक दशा बहुत दिन तक रही भी। वे तीन वर्ष तक बीमार रहे, पर आख़िर, आख़िर में मैं भी ऊब उठी थी।

पद्मा—और तुम आख़िर, आख़िर में यह भी चाहने लगी थी कि उन का जीवन......उनका जीवन समाप्त हो जाय ?

भारती—(कुछ सोचते हुए) कह नहीं सकती, जब उनकी तकलीफ़

बहुत बढ़ी तब कई बार यह बात मन में उठती थी कि उन्हें इतनी तकलीफ़ न सहनी पड़े तो ही अच्छा है, सम्भव है यह बात यथार्थ में उनके लिये न उठकर अपने छुटकारे के लिये उठती हो। बहन, तुम्हारी भाभी जी भी वृजमोहन जी की बीमारी के शुरू में यह कभी न चाहती होंगी कि उनका जीवन समाप्त हो जाय, उन्होंने उनके अच्छे करने में कोई बात उठा न रखी होगी परन्तु जब उन्हें यह दीख पड़ने लगा होगा कि उनका अच्छा होना अब असम्भव है तब......तब......

पद्मा—(क्रोध से) बहन, वह कुलटा होगी, वह व्यभिचारिणी होगी। किसी भी हालत में, किसी भी परिस्थिति में, कोई हिन्दू स्त्री, कोई सच्ची हिंन्दू पत्नी, अपने पति, अपने आराध्यदेव के संबंध में ऐसी बात जाग्रत अवस्था में तो क्या स्वप्न में भी नहीं सोच सकती, चाहे उसका सारा जीवन नष्ट हो जाय सारी जिंदगी बर्बाद हो जाय।

भारती—बहन, तुम जो कहती हो वह आदर्श है। अपने सारे सुखों को तिलांजलि देकर कोई स्त्री अगर अपने को पति में इस प्रकार विलीन कर सके, कोई प्रेम यदि अपने निजत्व को अपने प्रेमी को इस प्रकार समर्पण में दे सके तो वह मानवी नहीं देवी है वह मनुष्य नहीं देवता है; लेकिन, बहन 'यह मानव-मन......मानव-मन...मानव मन...।

[दोनों गम्भीरता से एक दूसरी की तरफ़ देखती हैं।]

यवनिका-पतन

मुख्य दृश्य

स्थान—कृष्णवल्लभ के मकान में उसके सोने का कमरा

समय—दोपहर

[कमरे के तीनों तरफ़ की दीवालें दिखती हैं जो आसमानी रंग से रँगी हुई हैं, पीछे की दीवाल में कई दरवाजे और खिड़कियाँ है, जिन में उसके बाहर की बालकनी का कुछ भाग और बग़ीचे के दरख्तों का उपरी हिस्सा तथा आकाश दिखाई देता है, जिससे जान पड़ता है कि कमरा दुमंज़िले पर है। दाहिनी तरफ़ की दीवाल में दो दरवाजे और एक खिड़की है। इनमें से एक दरवाज़ा खुला हुआ है। इससे स्नानागार का कुछ हिस्सा दिखाई देता है। बाईं ओर की दीवाल में भी दो दरवाजे और एक खिड़की है। इसमें से भी एक ही दरवाज़ा खुला है, जिससे नीचे के जाने का कुछ भाग दिखता है। दीवाल पर श्रीनाथ जी, यमुना जी, और श्रीकृष्ण की लीलाओं के कई चित्र लगे हैं। कमरे की छत से बिजली की बत्तियाँ और एक सीलिंग फैन झूल रहे हैं। जमीन पर क़ालीन बिछा है, जिसके बीचों बीच चाँदी के पायों का एक पलंग बिछा है। पलंग के पास ही एक टेबिल रखी है जिस पर दवा की शीशियाँ, थरमामीटर, एक टाइम-पीस घड़ी, और नोट बुक इत्यादि रखी है। पलंग के आसपास कुछ कुर्सियाँ और कुछ टेबिलें और रखी हैं। पलंग पर कृष्णवल्लभ रुग्ण अवस्था में लेटा है। उसकी उम्र क़रीब ३० वर्ष की है। वह साधारण ऊँचाई और गोरे रंग का व्यक्ति है, पर बीमारी के कारण अत्यन्त कृश हो गया है। मुख पर पीलापन और आँखों के चारों तरफ़ कालिमा आ गई है। सिर के बाल अंग्रेजी ढंग से कटे हैं और दाढ़ी मूँछ मुँडी हुई हैं। वह गले तक एक ऊनी शाल ओढ़े हुए हैं। उसी के नज़दीक की एक कुर्सी पर पद्मा बैठी हुई है। पद्मा की वेश-भूषा एकदम सादी हो गई है। मस्तक की टिकली और उसके नीचे

का चरणामृत उसी तरह लगा है जैसा उपक्रम में था उसके मुख पर शोक और चिन्ता का साम्राज्य छाया हुआ है ।]

कृष्णवल्लभ—(खाँसकर) दो वर्ष हो गये न, प्रिये ? दो वर्ष पहले की इसी महीने की इसी तारीख को पहले पहल बुखार आया था ।

पद्मा—हाँ, प्राणनाथ, दो वर्ष हो गये ।

कृष्णवल्लभ—वृजमोहन दो वर्ष से कुछ ही ज्यादा तो बीमार रहा ?

पद्मा—आप न जाने क्या क्या सोचा करते हैं !

कृष्णवल्लभ—(फिर खाँसते हुए) क्यों, प्यारी, यह कैसे न सोचूँ ? जो क्षय उसे था वही मुझे है, और वहाँ से लौटने के थोड़े दिन बाद ही हो भी गया ।

पद्मा—इससे क्या होता है, क्या इस बीमारी के रोगी अच्छे नहीं होते ?

कृष्णवल्लभ—वृजमोहन तो नहीं हुआ और मैं भी नहीं हो रहा हूँ ।

पद्मा—आप हो जायँगे ।

कृष्णवल्लभ—अभी भी तुम्हें आशा है ? प्रिये, आशा की जगह न होते हुए भी कई दफ़ा मनुष्य आशा को मन में ठूँसने का बलात्कार करता है । इस तरह की आशा अपने आपको धोखा देने की कोशिश करना है । यह झूठी आशा है; अस्वाभाविक आशा है ।

पद्मा—(जोर से) क्या कहते हैं, नाथ, क्या कहते हैं, मुझे आशा नहीं विश्वास, पक्का विश्वास है, कि आप अच्छे हो जायँगे ।

कृष्णवल्लभ—(पद्मा की तरफ़ करवट लेकर खाँसते हुए) और तो अच्छे होने के कोई आसार नहीं हैं, हाँ तुम्हारी तपस्या मुझे अच्छा कर दे तो दूसरी बात है ।

[पद्मा कोई उत्तर नहीं देती । उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं ।]

कृष्णवल्लभ—प्यारी, तुम मानवी नहीं देवी हो । इन दो सालों

में तुमने मेरे लिए क्या नहीं किया; न पेट भर खाया, न नींद भर सोईं; पूजा पाठ, जप, दर्शन तक छोड़ दिये। चौबीसों घंटे मेरे पलंग के पास। कहाँ कहाँ ले जाकर मेरी आब-हवा बदलाई। दो वर्ष के इस जीवन में किसी प्रकार का भी, कोई भी, सुख किसे कहते हैं वह तुम नहीं जानतीं।

पद्मा—(आँखों में आँसू भर कर) आपके अच्छे होते ही मेरे सारे सुख दूने होकर लौट आयेंगे।

कृष्णवल्लभ—(इकटक पद्मा की ओर देखते हुए) और, प्रिये, अगर मैं अच्छा न हुआ तो ?

पद्मा—यह कल्पना करने की भी बात नहीं है।

[कृष्णवल्लभ और पद्मा कुछ देर चुप रहते हैं। निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—(अपने दुबले हाथ ऊनी चादर से बाहर निकाल कर पद्मा का हाथ अपने हाथ में लेते हुए) प्राण-प्यारी, यह जानते हुए भी कि दुनियाँ में सब से निश्चित बात मरना है, कोई मरना नहीं चाहता ! मैं भी मृत्यु का आह्वान नहीं कर रहा हूँ। मैं जीना चाहता हूँ। तुम्हारे साथ वे सब सुख भोगने का इच्छुक हूँ जो दो वर्ष पहले प्राप्त थे। (खाँसने के कारण चुप हो जाता है। कुछ ठहर कर) सावन की उड़ती हुई घटाएँ और उनमें चमकती हुई बिजली, उन घटाओं का गर्जन और मंद मंद बरसती हुई फुहार, उसमें पपीहे की पीहू और मोर का केका तथा उस वायु-मंडल में तुम्हारे साथ झूलते हुए झूले की मुझे अब जितनी याद आती है उतनी स्वस्थ दशा में कभी नहीं आती थी। (खाँसी के कारण चुप हो जाता है। कुछ ठहर कर) बसंत में खिले हुए फूलों की रंग बिरंगी क्यारियाँ उनके दर्शन और उनकी सुगंध, मंथर गति से चलती हुई मलयानिल और कोकिल की कुहू और उस वातावरण में हम दोनों की अठखेलियाँ; तथा गुलाल और अबीर की उड़ान का अब जितना स्मरण आता है उतना

जब मैं अच्छा था तब मुझे न आता था (खाँसते खाँसते फिर रुक जाता है । कुछ ठहर कर) प्राणेश्वरी, मैं वे सारे सुख, सारे आनन्द फिर भोगना चाहता हूँ; लेकिन......लेकिन प्रिये......(चुप हो जाताहै)

पद्मा—(आँखें पोंछते हुए) लेकिन कुछ नहीं, हृदयेश्वर, आप के अच्छे होते ही हम वे सुख फिर भोगेंगे।

[कृष्णवल्लभ कोई उत्तर नहीं देता। थकावट के कारण पद्मा का हाथ छोड़कर आँखें बंद कर लेता है।]

पद्मा—(खड़े होकर) क्यों; थकावट मालूम होती है ?

कृष्णवल्लभ—यों ही थोड़ी सी।

पद्मा—मैंने कई दफ़ा कहा आप ज्यादा न बोला करें।

कृष्णवल्लभ—तुमसे बोलकर, पुराने सुखों की याद कर जो थोड़ा सा आनन्द मिल जाता है, उसे भी खो दूँ ?

[पद्मा कोई जवाब नहीं देती। कृष्णवल्लभ भी कुछ नहीं बोलता। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—प्रिये एक बात जानती हो ?

पद्मा—क्या, नाथ ?

कृष्णवल्लभ—मेरे मन में जब जब यह उठता है कि मैं अच्छा न होऊँगा तब तब मेरे सामने एक चित्र खिंच जाता है।

पद्मा—आपके मन में ऐसी बात ही नहीं उठनी चाहिये।

कृष्णवल्लभ—उसे न मैं रोक सकता हूँ और न तुम। (खाँसता है। कुछ रुककर) मैं तुम से एक प्रार्थना करता हूँ।

पद्मा—प्रार्थना ? प्राणेश्वर, आप हमेशा आज्ञा दे सकते हैं।

कृष्णवल्लभ—पर तुम मानती कहाँ हो ?

पद्मा—मैं आपकी आज्ञा नहीं मानती ?

कृष्णवल्लभ—और सब बातों में मानती हो, पर एक मामले में नहीं।

पद्मा—किस में ?

कृष्णवल्लभ—मेरे हृदय में जो कुछ उठता है उसे नहीं सुनतीं। हमेशा मेरी बात पूरी होने के पहले मुझे रोक देती हो। नतीजा यह निकलता है कि कह सुन कर मन की निकाल लेने से जो शांति मिलती है उससे भी मैं वंचित रह जाता हूँ।

पद्मा—तो आपकी वाहियात बातें भी सुना करूँ, उन बातों के बीच में भी आपको न रोकूँ ?

कृष्णवल्लभ—प्रिये, तुम अनुमान नहीं करतीं, बीमार की कल्पनाओं का; तुम अनुभव नहीं कर सकतीं उस शांति का जो उन कल्पनाओं को अपने सबसे बड़े प्रेमी, अपने सर्वस्व के सामने व्यक्त करने में मिलती है।

पद्मा—(लंबी साँस लेकर) अच्छी बात है हृदय पर पत्थर रखकर जो कुछ आप कहेंगे अब सब कुछ सुन लिया करूंगी।

कृष्णवल्लभ—(कुछ ठहर कर) मैं तुम से कह रहा था कि जब जब मेरे मन में यह उठता है कि मैं अच्छा न होऊँगा तब तब मेरे सामने एक चित्र खिंच जाता है। जानती हो किसका ?

पद्मा—बृजमोहन जी का होगा।

कृष्णवल्लभ—नहीं।

पद्मा—तब ?

कृष्णवल्लभ—भाभी का।

पद्मा—(उत्तेजित होकर) उस कुलटा का, उस पापिनी का, जिसने उनकी बीमारी में भी अपने गुलछर्रे नहीं छोड़े, जिसने उनके मरते ही दूसरी शादी करने में देर न की ?

कृष्णवल्लभ—प्रिये, भाभी न कुलटा थी और न पापिनी।

पद्मा—उससे बड़ी कुलटा और उससे बड़ी पापिनी न मैंने देखी और न सुनी है।

कृष्णवल्लभ—पहले मैं भी ऐसी समझता था पर अब नहीं समझता।

प॰—तो अब आप उसे बड़ी साध्वी, बड़ी धर्मात्मा समझते हैं?

कृष्णवल्लभ—कुलटा और पापिनी तो नहीं समझता (खाँसता है। कुछ रुककर) एक बात और कहूँ?

प॰—सब कुछ सुनने का तो मैंने वचन दे ही दिया है।

कृष्णवल्लभ—अगर तुम वैसी होतीं तो मुझे आज अपनी बीमारी का इतना दुख न होता।

प॰—(आँखों में आँसू भर कर) नाथ, आप यह क्या कह रहे हैं? क्या कह रहे हैं?

[कृष्णवल्लभ कोई उत्तर न देकर खाँसने लगता है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृ॰—प्रिये कभी कभी मुझे अपने से ज्यादा तुम्हारी चिंता हो जाती है। जब जब मेरे मन में उठता है कि मैं अच्छा न होऊँगा, तब तब मेरे जीने की इच्छा तो और प्रबल हो ही जाती है, तुम्हारे साथ भोगे हुए सुख भी याद आने लगते हैं, और उन्हें फिर से भोगने के लिए भी मैं अधीर हो उठता हूँ, तुम्हें छोड़कर जाना पड़ेगा शायद इसीलिए जाने का मुझे इतना दुःख होता है, पर इन सब बातों के सिवा जिस चीज़ से मैं सबसे ज्यादा तलमला उठता हूँ, वह है तुम्हारी इस वक्त की अवस्था, मेरे बाद तुम्हारा क्या होगा, इसकी कल्पना। काश तुम भी भाभी के समान हो जातीं तो मैं इस फ़िक्र से तो......

[कृष्णवल्लभ को खाँसी का जोर से एटैक होता है। खाँसते खाँसते वह बैठ जाता है। पद्मा घबड़ाकर उसकी पीठ सुहलाती है। कुछ देर में उसकी खाँसी रुकती है और वह एकदम थककर लेट जाता है तथा आंखें बंद कर लेता है। जीने से चढ़कर स्वच्छ वस्त्रों में एक मुनीम का प्रवेश]

मुनीम—श्रीनाथ द्वारे के समाधानी वहाँ के छप्पन भोग का

निमंत्रण और श्रीनाथ जी का बीड़ा लेकर पधारे हैं। यहीं सेवा में आना चाहते हैं।

कृष्णवल्लभ—(धीरे धीरे) मेरे बड़े भाग्य! ऐसे वक्त श्रीनाथ जी का बीड़ा! उन्हें फ़ौरन ले आइये, मुनीम जी।

मुनीम—जैसी आज्ञा। (प्रस्थान)

कृष्णवल्लभ—(धीरे धीरे) श्रीनाथ द्वारे में छप्पन भोग हैं और मेरी बदक़िस्मती तो देखो, मुझे ही दर्शन न होंगे इतना ही नहीं, तुम भी न जा सकोगी।

[मुनीम के साथ समाधानी का प्रवेश। समाधानी करीब ५० वर्ष का ठिगना और मोटा आदमी है। शरीर पर लंबी बगलबंडी पहने है। सिर पर उदयपुरी पाग बाँधे है और गले में दुपट्टा डाले है। उसके हाथों में एक लिफ़ाफा और वल्लभकुली बीड़ा है। कृष्णवल्लभ उठने का प्रयत्न करता है। पद्मा उसे सहारा देकर उठाती और पीछे तकिया लगाकर बैठाती है। वह समाधानी के हाथ जोड़ता है और खड़े होकर पद्मा भी।]

समाधानी—(नज़दीक आते हुए) आयुष्मान, श्रीमान्। सौभाग्य अचल होय, श्रीमती।

[नज़दीक पहुँचकर समाधानी अपने हाथ का लिफ़ाफा और बीड़ा कृष्णवल्लभ के हाथों में देता है। कृष्णवल्लभ उन्हें सिर व आँखों से लगाकर हृदय से लगाता है और फिर टेबिल पर रख देता है। सब लोग कुर्सियों पर बैठते हैं।]

समाधानी—श्रीमान की अवस्था के समाचार सूँ महाराज श्री कूँ अत्यन्त खेद भयो। मो कूँ या हेतु पठायो है कि श्रीमान कूँ आशीर्वाद सहित छप्पन भोग को निमंत्रण देऊँ और निवेदन करूँ कि श्रीमान जी आगे सुधि करत हैं।

कृष्णवल्लभ—महाराज श्री के अनुग्रह के लिये कृतज्ञता के मेरे पास शब्द नहीं हैं, समाधानी जी। मुझ से तो उस दर के अनगिनती

वैष्णव हैं और इतने पर भी महाराज श्री की मेरे पर यह कृपा! (खाँसता है। कुछ रुककर) समाधानी जी, महाराज श्री की इस अनुकंपा से मुझे रोमांच हो रहा है!

समाधानी—आपके से अगणित वैष्णव! क्या कहे हैं, श्रीमान? आपसे तो आप ही हैं!

कृष्णवल्लभ—(आँखों में आँसू भरकर) कैसी मेरी बदक़िस्मती कि जिस छप्पन भोग के दर्शन की अभिलाषा वर्षों से थी उसके मौक़े पर मेरा यह हाल है।

समाधानी—श्रीनाथ जी आपको शीघ्र स्वस्थ करिहैं। श्रीमान न पधार सकें तो श्रीमती जी।

कृष्णवल्लभ—(पद्मा की तरफ देखकर) ये......हाँ, ये ज़रूर जा सकती हैं। और अगर ये जायँ तो मुझे तो उससे जितनी ख़ुशी होगी उतनी किसी दूसरी चीज़ से हो नहीं सकती। (कुछ खाँसकर) छप्पन भोग का क्या कार्यक्रम है, समाधानी जी?

समाधानी—पहले वर्ष भर के उत्सव के मनोरथ होयँगे और अन्त में प्रभु छप्पन भोग आरोगेंगे। (पद्मा से) श्रीमती जी, आप अवश्य पधारें। महाराज श्री ने आज्ञा करी है कि श्रीमान न पधार सकें तो आपके पधारवे सूँ महाराज श्री कूँ परम हर्ष होयगो आप पधारकर श्रीमान के स्वस्थ होयबे प्रभु सन्निधान में प्रार्थना करें। श्रीनाथ जी श्रीमान कूँ शीघ्र ही स्वास्थ्य प्रदान करहिंगे।

[पद्मा कोई जवाब नहीं देती। कृष्णवल्लभ पद्मा की ओर देखता है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—(मुनीम से) मुनीम जी, समाधानी जी थके माँदे आये हैं। आपको अतिथि-आलय में अच्छी तरह ठहराइए। महाराज की आज्ञा पर हम लोग विचार करेंगे। (खाँसता है)

मुनीम—जैसी आज्ञा।

[मुनीम और समाधानी उठते हैं]

कृ०—आज शाम को फिर दर्शन देने की कृपा कीजियेगा।

समाधानी—जैसे आज्ञा, श्रीमान।

[कृष्णवल्लभ और पद्मा हाथ जोड़ते हैं। समाधानी हाथ उठाकर आशीर्वाद देता है। मुनीम और समाधानी का प्रस्थान। कृष्णवल्लभ खाँसता है और लेटने लगता है। पद्मा उठाकर टिकने के तकिये हटा उसे सहारा देकर लेटाती और फिर कुर्सी पर बैठती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृ०—प्रिये!

प०—प्राणनाथ!

कृ०—तुम्हारी जाने की इच्छा है?

प०—आपको इस हालत में छोड़कर?

कृ०—बहुत दिन का काम तो है नहीं।

प०—लेकिन मैं तो एक मिनट के लिए भी आपको नहीं छोड़ सकती।

कृ०—प्राणप्यारी, अर्धकुम्भ पर जब हम हरिद्वार न जा सके थे तब हमने कुंभ पर जाने का निश्चय किया था। कुंभ के मौके पर ही मैं बीमार पड़ा। (खाँसता है। कुछ ठहर कर) तुम्हें बहुत समझाया तुम नहीं गईं। अब श्रीनाथ जी के छप्पन भोग का उत्सव है। हर दफ़ा ऐसे मौक़े नहीं आते।

प०—लेकिन, प्राणनाथ, मैं आपको कैसे छोड़ सकती हूँ?

कृ०—डाक्टर दोनों वक्त आते हैं, तुम्हारी ग़ैरहाज़िरी में नर्स का इंतज़ाम हो जायगा। श्रीनाथ जी का छप्पन भोग है, प्राणप्यारी, महाराज श्री ने कृपा कर समाधानी के हाथ निमन्त्रण भेजा है, श्रीनाथ जी ने सुधि ली है, महाराज श्री ने आज्ञा दी है।

[पद्मा कोई उत्तर नहीं देती। कृष्णवल्लभ खाँसता है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—पंद्रह बीस दिन से ज्यादा नहीं लगेंगे, प्रिये!

[पद्मा—फिर भी कोई उत्तर नहीं देती। कृष्णवल्लभ पद्मा की तरफ़ देखता है। कुछ देर फ़िर निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—प्रिये, मेरी एक प्रार्थना मानोगी?

पद्मा—फिर वही बात, नाथ? प्रार्थना? आप आज्ञा दें।

कृष्णवल्लभ—(खाँस कर) तो मैं आज्ञा देता हूँ, प्राणप्यारी, तुम जाओ; श्रीनाथ द्वारे ज़रूर जाओ; ज़रूर।

[पद्मा कोई जवाब नहीं देती। उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं।]

कृष्णवल्लभ—प्रिये, श्रीनाथ जी के सन्निधान में मेरे स्वस्थ होने के लिए, अपने सौभाग्य के लिए, प्रार्थना.....प्रार्थना करना, प्राण-प्यारी। (आँसू भर आते हैं।)

[पद्मा रो पड़ती है। कृष्णवल्लभ को फ़िर जोर से खाँसी का दौरा होता है।]

यवनिका-पतन

उपसंहार

स्थान—कृष्णवल्लभ के मकान का बरामदा

समय—सन्ध्या

[दृश्य वैसा ही है जैसा उपक्रम में था। उदय होते हुए सूर्य के स्थान पर डूबते हुए सूर्य की किरणें बाहर के उद्यान को रँग रही हैं। एक तरफ़ पद्मा के दो सूट केस होल्ड ऑल, टिफ़िन कैरियर, सुराही इत्यादि सामान बँधा हुआ रखा है। पद्मा अपने सामान को देख रही है। उसने फिर से रेशमी साड़ी ब्लाउज़, रत्न-जटित आभूषण धारण कर लिये हैं। उसका मुख प्रसन्न तो नहीं कहा जा सकता लेकिन उस पर उस तरह का शोक और चिन्ता का साम्राज्य नहीं है, जैसा मुख्य दृश्य में था। भविष्य के सुख

की एक प्रकार की उत्कण्ठा उसके मुख पर दीख रही है। भारती का प्रवेश। वह वैसी ही दिखाती है जैसे उपक्रम में थी।

पद्मा—(भारती के आने की आहट पाकर उस तरफ देख तथा भारती को आते हुए देख कर उसी तरफ बढ़ते हुए) ओ, भारती बहन, आओ, बैठो, बहन ?

[भारती और पद्मा दोनों कुर्सियों पर बैठ जाती हैं।]

भारती—श्रीनाथ द्वारे जा रही हो, बहन ?

पद्मा—(दाहिनी तरफ से बग़ीचे की ओर देखते हुए) हाँ, वहाँ छप्पन भोग का उत्सव है, वे मुझे भेज रहे हैं।

भारती—वे तुम्हें भेज कर बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं और तुम जाकर भी सर्वथा उचित बात कर रही हो।

पद्मा—(भारती की तरफ देखकर) ऐसा ?

भारती—बिल्कुल। छप्पन भोग के अवसर पर तो वल्लभकुल सम्प्रदाय में वर्ष भर के सभी उत्सवों के मनोरथ होते हैं न ?

पद्मा—हाँ !

भारती—तुम्हें और कृष्णवल्लभ जी को वर्षा और वसंत बहुत प्रिय थे। श्रीनाथ द्वारे में सावन का हिण्डोलोत्सव, वसंत का फूलडोल और भी अनेक उत्सवों के दर्शन, नित्यप्रति होने वाले रास और गायन आदि से दृश्येन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय को तृप्ति मिलेगी। महाप्रसाद से जिह्वा को शांति प्राप्त होगी। अधिकांश इंद्रियाँ संतुष्ट हो जायँगी। हर तरह से मन बहलेगा। इहलोक और परलोक दोनों सुधरेंगे।

पद्मा—(भराये हुए स्वर में) बहन......बहन......

भारती—बहन, बरदाश्त करने की भी हद होती है। सहन-शक्ति सीमा-रहित नहीं है। बीमार के साथ बिना किसी बीमारी के कोई बहुत दिन तक बीमार से भी बदतर हालत में नहीं रह सकता। मृत के साथ जीवित अपने को मृत नहीं समझ सकता। आदर्श की बात दूसरी है। बहन, मानव......मानव-मन.......यह मानव मन......।

यवनिका-पतन

दस हज़ार

उदयशंकर भट्ट

पात्र

विसाखाराम : सीमा-प्रांत का एक सेठ
सुंदरलाल : विसाखाराम का लड़का
राजो : विसाखाराम की लड़की
राजो की माँ : सेठ की पत्नी
मुनीम

समयः—शाम के पाँच बजे।

[सीमा-प्रांत के एक नगर में एक दुमंज़िला मकान। ऊपर मंज़िल में एक बड़ा-सा कमरा, जिसमें दो दरवाजे हैं। एक सीढ़ी के पास और दूसरा मकान के भीतरी भाग में जाता है। गली की तरफ़ दो खिड़कियाँ हैं। भीतर कमरे में एक बड़ी खाट है, जिस पर मैला-बिस्तर बिछा है। पूर्व की तरफ कोने में एक चौकी है, उसके सामने आले में ठाकुर जी का एक सिंहासन है। उसमें कुछ पीतल की मूर्तियाँ हैं। उन पर गेंदे के फूल की माला चढ़ी है। आले की कील में एक रुद्राक्ष की माला है। हाथ की लिखी हुई छोटी-सी दो किताबें हैं। कमरे में कुछ तसवीरें हैं— एक रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की जिसमें राम के राज्याभिषेक का दृश्य है, हनुमान माला तोड़ रहे हैं। दूसरी तसवीर एक काली की है। कमरे में एक मोढ़ा रखा है और एक टूटी हुई कुर्सी, जिसका बेंत टूटा हुआ है। एक छोटी-सी मेज़ एक कोने में रखी है। उस पर एक लोटा और उसके ऊपर एक गिलास रखा है। दो खूँटियाँ गड़ी हुई हैं, उनमें एक पर एक पगड़ी और दूसरी पर एक दुपटा और एक मैला सा कोट

है। खाट पर लाला विसाखाराम बेचैनी से लेटे हुए हैं। उन की आँखों में बेचैनी है। चेहरा चिपका हुआ, रंग गोरा। बाल बिखरे हुए हैं। मालूम होता है बड़ी चिंता में हैं। हाथ में चिट्ठी है, जो बार-बार उठा कर पढ़ते हैं और फिर सिरहाने रख देते हैं। फिर उठा लेते हैं, पढ़ते हैं, और फिर रख देते हैं। उठकर बैठ जाते हैं और छत की कड़ियों की ओर ताकते हैं और धम से फिर खाट पर लेट जाते हैं।]

विसाखा०—हाय, क्या जाना था, यह दिन भी देखना पड़ेगा। हे रामजी! उबारो महाराज! बड़ी बिथा आ पड़ी है। कोई उपाय शूझे नहीं है। (आँख मींचकर ठाकुर जी को हाथ जोड़ने लगते हैं, फिर आँख खोलकर पत्र हाथ में लेकर पढ़ने लगते हैं) क्या करूँ? राजो, राजो री!

[भीतर के दरवाजे से १४ साल की एक लड़की दौड़ती हुई आती है।]

राजो—हाँ चाच्चाजी! क्या कहो हो!

विसाखा०—अरी, क्या अभी मुनीमजी नहीं आये! मरा जाऊँ हूँ। बड़ी मुसीबत है।

राजो—भाई जी कब आवेंगे भला? (एकदम पास आकर) बुला लो न भाई को। कुछ रुपयों की ही तो बात है। हाय, (आँखों में आँसू भरकर) हे भगवान्, बड़े नामुराद हैं ये लोग! चाच्चाजी, भेज दो रुपया, क्या देखो हो?

विसाखा०—(खाट पर बैठ कर) क्या देखूँ हूँ बेटा! अपनी किस्मत को रोऊँ हूँ। रुपया भी कहीं धरा है। अभी अनाज भी तो खरीदना है। कल मुहम्मद बकस आने रुपए का सूद देकर दो हज़ार माँगने आया था, उसको भी तो देना ही है। दस हजार के सरकारी बौंड खरीदने हैं, ऐसा मौका कब मिलेगा। इतना सूद क्या छोड़ा जा सके है बेटी! ओः! दस हजार देने पड़ेंगे! (एक दम खाट पर धड़ाम से लेट जाता है)।

राजो—(दौड़ कर) चाच्चाजी, क्या हुआ तुम्हें ! भाभी, ओ भाभी ! देख तो चाच्चा को क्या हुआ है ?

[राजो की माँ 'अरी आई' कहती हुई आती हैं ।]

राजो की माँ—कह तो दिया, परेसान होने की क्या जरूरत है । दे दो दस हज़ार । रुपए तो फिर भी मिलते रहेंगे । लड़का तो फिर...हा भगवान, क्या कह रही हूँ । हे रामजी ! (हाथ जोड़ कर आले में रखे सिंहासन की तरफ देखने लगती है) यों ही करे हैं ! दया करो भगवान् !

विसाखा०—मुनीमजी नहीं आये ? (आँख बंद कर लेता है ।)

राजो—आते ही होंगे । तुम्हारा कैसा जी है ?

राजो की माँ—कहूँ तो हूँ, फिकर क्यों करो हो ? हे ईश्वर, मेरे लड़के को लौटा दो । मेरा सब कुछ ले लो । मेरे प्यारे बच्चे को मुझे दे दो भगवान् ! (रोने लगती है ।)

राजो—(माँ के गले से लिपट कर) रोवे क्यों है भाभी ! चाचा से कह के भाई को बुला ले न !

राजो की माँ—(आँसू पोंछती हुई) कैसे बुलाऊँ बेटी, तेरे चाचा को तो रुपए की पड़ी है । ईश्वर ने एक ही लड़का दिया...हा भगवान् !

विसाखा०—(आँखें खोल कर) राजो, मुनीमजी नहीं आये बेटी !

राजो—अभी तो नहीं आये ।

विसाखा—न मालूम मुनीम ने खांड का सौदा किया या नहीं । इस बखत तो खांड खरीदना जरूरी है । फिर महँगी हो जायगी । कैसी मुसीबत है । न जाने इबराहीम से रुपये का तकाजा किया या नहीं । आज चार साल होने आये, अभी तक सूद भी नहीं दिया । मुकदमा लड़ना पड़ेगा । तब कहीं जाकर वह बेईमान रुपया देगा । (पत्र हाथ में लेकर) पर इस को क्या करूँ ?

['राजो, राजो' नाम लेकर मुनीम आवाज़ लगाता हुआ जीने में खट्-खट् चढ़ता आता है ।]

विसाखा०—लो, मुनीमजी, आ गए। (एकदम उठकर बैठ जाता है) आओ मुनीमजी, आज बड़ी देर लगाई।

[राजो और उसकी माँ दूसरे दरवाजे से घर में चली जाती हैं।]

मुनीम०—जै रामजी की सेठ जी! देर हो गई। दिन-भर का हिसाब-किताब करना था। तेरह आने के हिसाब से खांड के सौ बोरे खरीद लिये हैं। मुहम्मद बकस का आदमी आया था। मैंने कह दिया, सेठजी के आने पर फैसला होगा। सुना है, इबराहीम फ़रार हो गया है। रोकड़ मिलाते इतनी देर हो गई है। हाँ पठानों का कोई खत आया क्या?

विसाखा०—खांड तो बारह आने थी न! फिर तेरह आने क्यों खरीदी? इब्राहीम भाग गया क्या? यह तो बड़ी बुरी खबर है, मुनीमजी, चार हज़ार नक़द हैं। कैसे छोड़े जा सकते हैं। चौधरी से नहीं कहलवाया? वह तो ज़ामिन है न! सरकारी बौंड की कोई चिट्ठी आई? रुपए तैयार रखना। बौंड तो खरीदने ही होंगे।

मुनीम—पठानों की तरफ़ से कोई चिट्ठी आई सेठजी?

विसाखा—रोकड़ में कितना बाकी है? चौधरी के पास अभी भेजो और तकाज़ा करो। (खाट पर लेट कर) सब तरफ़ मुसीबत है रुपया लेकर देने का कोई नाम नहीं लेता। (आँखें बंद करके लेट जाता है) हा भगवान्! हे रामजी! कैसा बुरा समै है!

मुनीम—पठानों ने कुछ नहीं लिखा सेठजी? सुन्दरलाल का ख़याल करना ही चाहिए। न मालूम बिचारे को कैसी तकलीफ़ दे रहे होंगे। (सेठ की ओर देखता है)

विसाखा०—लो यह पढ़ो। कैसा दुष्ट है लड़का! ज़रा भी लड़ाई नहीं करी। डोली में नई बहू की तरह उनके साथ चला गया मेरी छाती पर मूँग दलने! कहाँ से लाऊँ दस हज़ार? दस हज़ार! (चिट्ठी मुनीम के हाथ में देकर) लो पढ़ो, सब बरबाद कर दिया। भला बाहर

निकला ही क्यों ?

मुनीम—सेठजी, सुन्दरलाल का कोई कसूर नहीं है। उगराही को उसे तुम्हीं ने तो भेजा था।

[ख़त हाथ में लेकर पढ़ने लगता है।]

विसाखा०—बरबाद हो गया मैं तो मुनीमजी! हाँ' ज़रा ज़ोर से पढ़ो।

मुनीम—(चौंक कर) हैं! यह तो सुन्दरलाल की ही लिखावट है! लिखता है—'पिता जी, अगर मेरी ज़िदगी चाहते हो तो किसी आदमी के हाथ ख़ैबर फाटक के बाहर आज ठीक शाम के आठ बजे दस हज़ार रुपया पहुँचा दो। पुलिस को, या कोई आदमी लेकर आये तो ख़ान कहता है, मुझे मरा ही समझो। इन लोगों ने मुझे बड़ी तकलीफ़ दी है। शायद नरक की कोई भी यातना इस से अधिक नहीं हो सकती मुझे विश्वास है, आप मेरी रक्षा करेंगे।

आपका पुत्र,
सुन्दरलाल।'

नीचे ख़ान ने ख़ुद पश्तो में लिखा है—

'अम तुमको इत्तला देता है, तुम आज बुधवार को शाम के आठ बजे दस हज़ार रुपया ख़ैबर फाटक के बाहर पहुँचा दे, नई तो तुम्हारा लड़का को मार डालेगा।

अमीरअली ख़ां।'

[मुनीम ख़त रख विसाखाराम की ओर देखने लगता है।]

मुनीम—सेठ जी, दस हज़ार की क्या बात है। आज ही तो बुधवार है। अगर कहें तो मुहम्मद बक्स को न देकर दस हज़ार का इंतज़ाम कर लूँ। रुपया तो है ही।

विसाखा०—(उठ कर) आने रुपए का सूद है मुनीमजी! दस हज़ार यों ही जायँगे ? हे भगवान्! कंगाल कर दिया!

[राजो और उसकी माँ एक दम कमरे में आ जाती हैं ।]

राजो की माँ—यों ही जावेंगे. सुना तुमने मुनीमजी ! इनकी अकल पर तो पत्थर पड़ गए हैं । कुछ नहीं सोचते । बस, रुपया, रुपया ! मेरा लड़का ला दो मुनीमजी ! हाय मेरा सुंदर ! हाय मेरा बच्चा रे !

[घूँघट किये जमीन पर बैठ जाती है । राजो दौड़ कर पिता से लिपट जाती है और निहोरे के ढंग से उसे देखने लगती है ।]

विसाखा०—भला मुनीम जी, मैं क्या कहूँ हूँ कि सुन्दर न आये ? मैं तो खुद चाहूँ हूँ कि लड़का किसी तरह आ जावे । मैं क्या सुंदर का बाप नहीं हूँ ? तुम्हीं बताओ । लड़के के बिना तो घर सूना-सूना सा लगे है ।

मुनीम—[सिर हिला कर] हाँ; सो तो है ही ।

राजो की माँ—आज सवेरे से मैं इनका रूप देख रही हूँ । कहूँ हूँ रुपए के पीछे लड़के को हाथ से न खोओ रुपया तो हाथ का मैल है । दस हजार क्या बड़ी बात है । पर इन्हें तो न जाने क्या हो गया है । ब्याज और सूद से इनका विचार छूटे न ! मुनीम जी, मैं तुम्हारे पैर पड़ूँ मेरा सुंदर ला दो ।

मुनीम—माता जी, घबराओ मत । सुंदर को घर पर ही समझो ।

राजो की माँ—घर कैसे समझूँ मुनीमजी, घबराऊँ क्यों नहीं इनकी (पति की ओर इशारा करके) हालत देखकर तो मेरे जी में ऐसा हो रहा है कि मैं लड़का खो बैठूँगी । कहते हैं, जो होना था, सो हो गया । और लड़का...हाय ! न मालूम इनसे यह कैसे ऐसा कहा गया । हे भगवन् !

राजो—मुनीमजी, मेरे भाई को जल्दी बुला दो । देखो, कई रातों से माँ सोई नहीं हैं । सारी-सारी रात रोती रही हैं । आँखें सूज गई हैं । मेरे भाई को जल्दी ले आओ, मुनीमजी !

[रोने लगती है]

राजो की माँ—मैं कहूं हूँ मेरा गहना लेकर बेच दो और मेरे लड़के को बचा लो।

मुनीम—घबराने की क्या बात है माताजी, सेठजी को भी तो आप से कम फ़िकर नहीं है।

विसाखा०—हाँ सो तो है ही। मैं भी कब सोया हूँ रात में। दिन-रात चिंता लगी रहती है। सुंदर मेरी आँखों के सामने झूमता रहे है उसके बचपन की बात याद आया करे है। इधर इब्राहीम रुपया देने में ही नहीं आवे। क्या तुमने उसके सूद का हिसाब लगाया मुनीमजी? कितना बने है उसके ऊपर? खांड कहाँ रखवाई है, गोदाम में न? देखो, तालियाँ अपने पास ही रखना। न हो तो मुझे दे जाओ।

मुनीम—सेठजी, सुंदरलाल के लिए क्या हुक्म है। रुपया का इंतजाम करूँ? बहुत थोड़ा बखत है। (सेठ की ओर देखता है) पंद्रह हज़ार तिजोरी में रखकर आया हूँ।

विसाखा०—दस हज़ार! न कम न थोड़ा। अरे और कोई इंतज़ाम नहीं हो सके है मुनीमजी! पुलिस को खबर क्यों न कर दो!

मुनीम—पुलिस भी क्या लेगी सेठजी, पुलिस भी तो डरे है। और उसे क्या मालूम नहीं है? पर वह करे तब तो! सेठजी मैं तो आप को सलाह न दूँगा कि आप और कोई इंतज़ाम करें। नहीं तो आप लड़के से हाथ धो बैठेंगे। न करे ईश्वर?

राजो की माँ—तुम किस संसै में पड़े हो मुनीमजी! लो मेरा गहना ले जाओ। (उतारकर समाने रख देती है) लो मेरे लड़के को ला दो। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।

विसाखा०—क्या सब मेरे प्रान खाये जाओ हो। गहना भी कौन घर का नहीं है।

मुनीम—सेठजी देर हो रही हुक्म दो।

राजो की माँ—कह तो रही हूँ, पहले जाओ। पठानों को दे देना।

विसाखा०—क्या करूँ मैं फिर। मुनीमजी, अलीबकस अपने गहने छुड़ा ले गया क्या ?

मुनीम—देर हो रही है सेठजी ! खैबर फाटक पहुँचना है क्या हुक्म है

विसाखा०—(दस हजार का खयाल आते ही फिर बेसुध-सा होकर लेट जाता है।)

मुनीम—क्या आज्ञा है सेठजी, इसलिए जल्दी कर रहा हूँ, दुकान से कुछ आदमी साथ ले लूँगा।

राजो की माँ—अरे बोल तो दो। न बोलो। मुनीम जी (अकड़ कर) ले आओ रुपया। मैं क्या घर की, दुकान की कोई भी नहीं हूँ ? जाओ देर न करो। हे भगवान् !

मुनीम—जो हुक्म, (चला जाता है।)

राजो—(माँ से) अब भाई आ जायगा माँ !

माँ—हाँ बेटी लेने गये हैं मुनीम जी। भगवान् का नाम ले, सुंदर राजी-खुशी घर लौटे।

विसाखा०—(एकदम चेतन-सा उठकर) मुनीम जी गये ?

राजो—हाँ गये, चाच्चा जी !

विसाखा०—घर बरबाद कर डाला। क्या से क्या हो गया ! लड़का कपूत निकला हा ? कैसे मैंने पैसा कमाया। दस हज़ार, हाय राम ! (फिर लेट जाता है) अरी राजो की माँ, मैं मरा !

राजो की माँ—कहूँ हूँ कौन बड़ी रकम है। घर बच्चा आ जाय तो

और हो जायँगे रुपए। परमात्मा ने सब कुछ तो...हे भगवान् दया करो। तुम इतनी चिंता क्यों करो हो ?

विसाखा०—चिंता न करूँ ? (बैठकर) खून की कमाई है, खून की ! आज चालीस साल से लगातार दिन-रात एक करके रुपया कमाया। (लेट जाता है)

राजो की माँ—कमाया है तो क्या फायदा। न तीरथ, न जप तप, न वर्त। कभी हरिद्वार भी न ले गये। मैं तो तुम्हार पैसा जानती ही नहीं। चार कोठियाँ हैं और हम इसी गली में पड़े सड़ रहे हैं। आज तीन-चार लाख रुपए के मालिक हो। एक पैसा भी कभी दान न किया ऐसा रुपया किस काम का ?

विसाखा०—(उठकर) आग लगा दे घर में ! मुझे क्या ? मुनीम ने आज की बिक्री का कोई हिसाब ही नहीं दिया। बेईमान हो गया है। हे रामजी, (लेट जाते हैं) दस हज़ार रुपया इस नालायक के... मुनीम कहाँ गया है राजो ?

राजो की माँ—और रुपया होता ही किस लिए है ? इसमें सुंदर का क्या अपराध है भला ?

विसाखा०—मुनीम कहाँ गया ? शायद उगराही करने गया होगा। हे रामजी, दया करो ! (लेट जाता है।)

[सुन्दरलाल और मुनीम का प्रवेश। राजो की माँ सुन्दरलाल को देखकर फूट फूट कर रोने लगती है। राजो भाई से लिपट जाती है। लड़का दौड़कर पहले विसाखाराम, फिर अपनी माँ के पैर छूता है।]

विसाखा०—(पुत्र को देखकर) आगया रे ! बड़ी खुशी हुई।

राजो की माँ—आज बेटे को देखकर छाती ठंडी हुई। (उससे लिपट जाती है) मेरी आँखों के तारे !

राजो—मेरे भैया ! उसके गले से लिपट जाती है।

राजो की माँ—कैसा दुबला हो गया इतने ही दिन में !

सुन्दर—हाँ माँ ! भगवान् इन राक्षसों के पंजे में न डाले। देख, मार-मार कर तमाम देह सुजा दी है। (देह दिखाकर) हड्डी-हड्डी दुख रही है।

विसाखा०—बड़ा अच्छा हुआ बेटा ! कैसे आये ? क्या वैसे ही उन्होंने छोड़ दिया ? मुनीमजी, आज उगराही में क्या मिला ?

सुन्दरलाल—(मुनीमजी की ओर देखकर) दस हज़ार रुपए दिये थे न !

मुनीम—(घबरा कर) हाँ, सेठजी जी ने हुक्म दिया था न !

विसाखा०—क्या पूरे दस हज़ार !

[एकदम धड़ाम से तकिये पर गिर पड़ता है। सुन्दरलाल, मुनीम राजो विसाखाराम की ओर देखते हैं।]

राजो की माँ—(सुन्दरलाल को थपथपाती हुई) इन्हें नींद आ गई है बेटा, आओ चलें।

पर्दा गिरता है।

मैं—और केवल मैं

[श्री भगवतीचरण वर्मा]

पात्र

टॉमसन—अफसर

रामेश्वर, कृष्णचन्द्र, परमानंद, बेनीशंकर, देवनारायण, श्यामलाल, खन्ना आदि—आफिस के कर्मचारी

मँहगू—चपरासी

—:०:—

[एक बड़े दफ़्तर का आराम का कमरा। सामनेवाली दीवार से मिली हुई दो अलमारियाँ रखी हैं जिनमें किताबें हैं। दोनों अलमारियों के बीच एक खिड़की है। खिड़की के ऊपर एक घड़ी लगी है, जिस में एक बज रहा है।

दाहिनी ओर एक दरवाज़ा है और दो उसके अगल-बगल दो खिड़कियाँ हैं। बाईं ओर दो दरवाजे हैं। कमरे के बीचों-बीच एक लम्बी मेज़ पड़ी है, जिसके चारों ओर कुरसियाँ रखी हुई हैं। दो-एक आराम-कुरसियाँ भी इधर-उधर पड़ी हैं।

रामेश्वर बैठा हुआ कुछ सोच रहा है। उसका सर झुका हुआ है, मानो वह किसी गहरे विचार में मग्न हो।

कृष्णचन्द्र का प्रवेश। कृष्णचन्द्र दरवाजे से ही कहता है—]

कृष्णचन्द्र—कहो जी रामेश्वर, क्या हाल है ?

[रामेश्वर कोई जवाब नहीं देता। कृष्णचन्द्र उसके पास आता है और कुरसी पर बैठ जाता है। जेब से सिगरेट-केस निकाल कर एक सिगरेट सुलगाता हुआ]

कृष्णचन्द्र—क्यों जी, क्या बात है, आज बड़े सुस्त दीख रहे हो ?

रामेश्वर—हाँ, बीबी की तबीयत बहुत ज्यादा गिर गई, डाक्टरों ने जवाब दे दिया और आज सुबह से मेरी तबीयत भी कुछ भारी है !

कृष्णचन्द्र—अरे भाई, यह तो बुरी खबर सुनाई और सुना—खन्ना साहेब ने एक नया गुल खिलाया ?

[रामेश्वर कोई जवाब नहीं देता—वह केवल कृष्णचन्द्र को गौर से देखता है ।]

कृष्णचन्द्र—उस साले को निकलवा के न छोड़ा, तो मेरा नाम कृष्णचन्द्र नहीं ! मिस्टर टॉमसन को बस में क्या कर रखा है अपने को लाट-साहेब समझने लगा है । लेकिन बच्चा को अभी यह पता नहीं कि कैसे आदमी से पाला पड़ा है !

रामेश्वर—हूं ! (गरदन नीची कर लेता है । और एक ठंढी साँस लेता है ।)

(बेनीशंकर का प्रवेश । दरवाजे से कहते हुए आते हैं—)

बेनीशंकर—काम करते-करते तबीयत झक हुई जाती है । दिन-रात गधे की तरह जुत कर काम करता हूँ, लेकिन कोई पूछने वाला नहीं ।

(बेनीशंकर आकर कृष्णचन्द्र की बग़ल में बैठ जाता है । रामेश्वर की ओर देखता है; फिर पूछता है—)

बेनीशंकर—अरे रामेश्वर, आज चेहरा बड़ा उतरा हुआ है !

रामेश्वर—क्या बताऊँ, आज सुबह से तबीयत भारी है । कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है ।

कृष्णचन्द्र—डाक्टर को क्यों नही दिखलाते ?

रामेश्वर—हाँ, दो एक दिन में जाऊँगा । आज महीना भर से कुछ न-कुछ शिकायत चली ही जाती है ।

(जिस समय रामेश्वर अपनी बात कहता है, कृष्णचन्द्र बेनीशंकर की ओर देखता हुआ कहता है—)

कृष्णचन्द्र—कहो जी, खन्ना से कैसी निपटी ?

बेनीशंकर—अरे निपटी कैसी ? मैं कोई दबने वाला थोड़े ही हूँ ! कस के काम करता हूं और दुनिया को ठेंगे पर मारता हूँ।

रामेश्वर—पूरा एक महीना—और बीवी को डाक्टरों ने जवाब दे दिया ! और एक दूधपीता बच्चा !

(रामेश्वर की बात कोई नहीं सुनता)

कृष्णचन्द्र—लेकिन साला है बदमाश ! मैं कहता हूँ बेनीशंकर, जब तक यह आदमी यहाँ है तब तक हम लोग कोई सुख-चैन से नहीं रह सकते ।

बेनीशंकर—(मुसकराता हुआ) बड़ी जल्द टिकट कटने वाला है !

रामेश्वर—(कृष्णचन्द्र से) भाई, तुम्हारे बहनोई तो बड़े मशहूर डाक्टर हैं ! ज़रा मैं उन्हें दिखलाना चाहता हूँ ।

कृष्णचन्द्र—हाँ-हाँ चलना । (बेनीशंकर की तरफ घूम पड़ता है) न जाने कब से सुन रहा हूँ, लेकिन देखता हूँ वैसा ही डटा हुआ है, टस-से-मस नहीं होता, उस्ताद, अगर बीवी-बच्चों का ख्याल न होता तो फिर मैं बतलाता !

[देवनारायण का प्रवेश । चुपचाप आकर रामेश्वर के पास बैठ जाता है । बेनीशंकर देवनारायण की ओर घूमता है]

बेनीशंकर—कहो जी देवनारायण, कोई नई खबर ?

देवनारायण—जनाब, आज टामसन साहेब ने मिस्टर खन्ना को बहुत डाँटा । मैं बैठा हुआ सुन रहा था, खन्ना साहेब की घिग्घी बँध गई, ज़वाब तक न देते बना !

कृष्णचन्द्र—क्या कहा ? तो बात यहाँ तक पहुँच गई—वह मारा !

(रामेश्वर तीनों को एक बार ग़ौर से देखता है—उसके बाद कृष्णचन्द्र से)

रामेश्वर—भाई कृष्णचन्द्र, तो आज शाम को चलोगे न ?

(कृष्णचन्द्र इस प्रश्न का जवाब न देकर रामेश्वर से कहता है ।)

कृष्णचन्द्र—क्यों जी रामेश्वर, टॉमसन साहेब तुमसे तो बड़े खुश हैं। तुम उन्हें क्यों नहीं सुझाते कि वह खन्ना को अलग करें। हम लोग उनकी जगह तुम्हारा नाम पेश करेंगे।

(रामेश्वर सिर्फ तीनों को देखकर एक ठंडी साँस लेता है)

देवनारायण—अरे, तुम इतने उदास क्यों हो ? रामेश्वर, तबीयत तो ठीक है ?

बेनीशंकर—नहीं, आज सुबह से इनकी तबीयत कुछ खराब है।

देवनारायण—तो छुट्टी क्यों नहीं ले लेते ? ज्याँ घर पर आराम करो जाकर !

कृष्णचन्द्र—तो रामेश्वर सुना न ! इस वक्त मौक़ा है और अगर अब चूके तो सब ख़त्म हो जायगा। जानते हो खन्ना तुम्हें निकल-वाने पर तुला हुआ है ?

रामेश्वर—होगा ! लेकिन मैं क्यों कोई ऐसा काम करूँ, दूसरे का अनिष्ट मुझ से न होगा। हाँ कृष्णचन्द्र, बतलाया नहीं, कल सुबह ले चलोगे, मैं तुम्हारे यहाँ आ जाऊँगा ?

कृष्णचन्द्र—अरे यार आ जाना ! (बेनीशंकर से) परमानन्द ही इस मौके का फायदा उठा सकता है।

बेनीशंकर—हाँ यार, ठीक कहा। चलो, उसके यहाँ चलें।

(कृष्णचन्द्र और बेनीशंकर उठकर जाते हैं।)

रामेश्वर—(कृष्णचन्द्र से) अच्छा तो कृष्णचन्द्र, कल सुबह सात बजे मैं...

(कृष्णचन्द्र और बेनीशंकर कमरे के बाहर चले जाते हैं।)

देवनारायण—(मुसकराता हुआ) चले गए—बिना तुम्हारी बात सुने चले गये ! यह दुनिया काफी मजेदार है। है न ?

रामेश्वर—क्या कहा ?

देवनारायण—(दरवाजे की तरफ़ देखता हुआ) और दुनिया ठीक ही करती है तुम्हारी बात को सुनने वाला कौन है ? फिर तुम्हारी बात दुनिया में कोई सुने ही क्यों ?

रामेश्वर—देवनारायण ! हृदय की पीड़ा को प्रकट करना क्या कोई पाप है ?

देवनारायण—हाँ, है। तुममें और तुम्हारी पीड़ा में किसी को कोई दिलचस्पी नहीं। जब तक तुम दूसरे से उसके हित की बात कहते हो, वह तुमसे मिलकर प्रसन्न होगा, तुम्हारे साथ हँसे-बोलेगा और जहाँ तुम उससे अपने अपने सुख-दुख की बात करने लगते हो, उसका जी ऊब जाता है। तुम्हारे सुख से उसे कोई मतलब नहीं तुम्हारे दुःख की उसे परवाह नहीं।

रामेश्वर—देवनारायण, तुम क्या कह रहे हो ? दुनिया में मानवता नाम की भी कोई चीज़ है।

देवनारायण—मानवता ! हा-हा-हा ! जिसे तुम मानवता कहते हो वह ढकोसला है—छल है। जो मानवता है, वह बड़ी कुरूप चीज़ है रामेश्वर ! मानवता के माने हैं एक दूसरे को खा जाना; मानवता के माने हैं स्वयम् सुखी बनने के लिए दूसरे को दुखी बनाना। विजय—दूसरों पर विजय दूसरों को गुलामी...यही मानवता है।

[रामेश्वर एक ठंडी साँस लेकर देवनारायण की ओर देखता है।]

रामेश्वर—तुम जो कुछ कह रहे हो वह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। देवनारायण, जानते हो—घर में पत्नी मरणासन्न पड़ी है और अबोध बच्चा बिना ममता के, प्यार के धूल में फिसल रहा है; और मैं निराश, टूटा हुआ यहाँ बैठा हूँ। देवनारायण, क्या करूँ ?

देवनारायण—मैं क्या बताऊँ ? यह बला तुम्हारी है, तुम्हीं भुगतो; और उफ़ मत करो। आखिर अपनी मुसीबतों को बयान करने से तुम्हें क्या मिल जायगा ? सहायता ? नहीं, दुनिया में कोई ऐसा नहीं

है, जिसके ऊपर मुसीबतें न हों और जो सहायता न चाहता हो। सहानुभूति ? वह निरी मौखिक वस्तु है—बिल्कुल धोखे की चीज़ है। सिवा इसके कि तुम लोगों के हृदय पर एक भार बनो—वसन्त ऋतु को तुषार की तरह झुलस दो, हँसी की दुनिया में एक कर्कश चीख की तरह उठ पड़ो—तुम्हारा दूसरों से अपने दुःख को कहना कोई अर्थ नहीं रखता ! समझे ! अब मैं चला !

[देवनारायण उठकर चल देता है। रामेश्वर देवनारायण को जाते हुए देखता है—उस के माथे पर बल पड़ जाते हैं।]

रामेश्वर—हूँ, इतनी खुदी, इतनी उपेक्षा !

[कृष्णचन्द्र—बेनीशंकर और परमानन्द का प्रवेश]

बेनीशंकर— (रामेश्वर से) क्यों जी रामेश्वर, देवनारायण कहाँ गये ?

[रामेश्वर कोई उत्तर नहीं देता। सब लोग बैठ जाते हैं। परमानन्द रामेश्वर को गौर से देखता है।]

परमानन्द—अरे रामेश्वर, क्या मामला है ? तुम्हारी आँखों में आँसू भरे हैं !

बेनीशंकर—अरे क्या लड़कियों की तरह रो रहे हो ? वीर बनो !

कृष्णचन्द्र—देखो परमानन्द तैयार है, इस खन्ना का समय आ गया अब बच नहीं सकता। हाँ परमानन्द, मिस्टर टॉमसन अब लंच से लौटकर आ गये होंगे। यही वक्त ठीक होगा।

परमानन्द—भाई रामेश्वर को क्यों नहीं राज़ी करते—रामेश्वर, अगर केवल एक दफ़े तुम मिस्टर टॉमसन से मिल लेते, केवल एक दफ़े तो सब काम बन जाता !

रामेश्वर—कौन काम ?

परमानन्द—यही खन्नावाला। आज ही सब फैसला हो जाता।

रामेश्वर—मुझे क्षमा करो परमानन्द। मैं खन्ना के खिलाफ़ कोई

काम न करूँगा। खन्ना के खिलाफ़ ही क्यों—किसी के खिलाफ़ नहीं।

बेनीशंकर—हाँ जनाब! खन्ना साहेब की नज़र में चढ़ना चाहते हैं। क्याँ यह ढोंग कब तक चलेगा?

रामेश्वर—(कड़ी आवाज में) क्या कहा?

कृष्णचन्द्र—(बेनीशंकर से) चलो जी, इनकी तबीयत ठीक नहीं है। हम लोग चलते हैं हाँ, देवनारायण को साथ ले लेना चाहिये। वह है कहाँ?

(सब लोग जाते हैं)

रामेश्वर—ये लोग भी दूसरे को मिटाने पर तुले हुए हैं, आखिर क्यों?

(महँगू चपरासी का प्रवेश)

महँगू—सरकार, डाक मेज पर रखी है। (रामेश्वर को गौर से देखता है) अरे सरकार, आज बहुत उदास हैं, तबीयत तो ठीक है?

रामेश्वर—नहीं महँगू, आज न जाने कैसा लग रहा है।

महँगू—सरकार घर चलें। छुट्टी ले लें। मैं भी चल रहा हूँ। मालकिन की कैसी हालत है?

रामेश्वर—क्या बतलाऊँ, महँगू! डाक्टर कहता है कि दो-एक दिन की मेहमान हैं।

(महँगू की आँखों में आँसू आ जाते हैं।)

महँगू—सरकार, भगवान् पर विश्वास रखें। जो कुछ भाग्य में है, वह होगा। मोहन भी अभी बिलकुल बच्चा है!

[देवनारायण का प्रवेश। वह मुस्करा रहा है। वह आकर रामेश्वर की बग़ल में बैठ जाता है।]

देवनारायण—सुना, परमानन्द को टॉमसन ने अभी-अभी डिसमिस कर दिया!

रामेश्वर—(चौंककर) क्या कहा? यह क्यों?

देवनारायण—परमानन्द ने जब खन्ना की शिकायत की तो साहेब बजाय इसके कि खन्ना के खिलाफ़ कोई कारवाई करते, उन्होंने परमानन्द को ही डिसमिस कर दिया !

[रामेश्वर उठ खड़ा होता है ।]

रामेश्बर—मैं भी टॉमसन के पास जाता हूँ । परमानन्द के छः बच्चे हैं, बुढ़िया माँ है, बीवी है, ये सब भूखों मरेंगे ।

[रामेश्वर दो क़दम बढ़ता है. उसी समय देवनारायण उसका हाथ पकड़ लेता है]

देवनारायण—बेवकूफ़ी मत करो । क्यों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हो । खन्ना के खिलाफ़ कोई बात नहीं सुनी जायगी, यह हम सब जानते हैं । परमानन्द ने वहाँ जाकर ग़लती की और अपनी ग़लती का नतीजा वह भोगेगा ।

[श्यामलाल का प्रवेश ।]

रामेश्वर—(श्यामलाल को देखकर) अरे श्यामलाल !

श्यामलाल—आपको ढूंढ रहा था । आँ......

रामेश्वर—क्या हुआ, कहो घर में तो सब ठीक है ?

श्यामलाल—आँ...मोहन दो मंज़िल से गिर पड़ा और गिरते ही उसके प्राण निकल गये । बहूजी ने जब सुना, तब वे ज़ोर लगाकर उठीं—और वैसे ही लुढ़क पड़ीं । चलिये ।

[रामेश्वर कुरसी पर गिर पड़ता है ।]

रामेश्वर—हूँ ! तो सब समाप्त हो गया ?

[शून्य दृष्टि से अपने चारों ओर देखता है ।]

[मिस्टर टॉमसन के साथ मिस्टर खन्ना का प्रवेश ।]

खन्ना—मिस्टर रामेश्वर ! मैंने आपको फ़ायल दी थी, उस पर अभी तक कोई कार्रवाई नहीं की । क्यों ?

टॉमसन—मिस्टर रामेश्वर, मिस्टर खन्ना ने आपकी कई शिका-

यतें की हैं। मैं आप से आशा नहीं करता कि आप इतनी लापरवाही करेंगे। देखिए, उस फ़ाइल पर कार्रवाई करके मेरे पास भेज दीजिये।

[खन्ना और टॉमसन चलने लगते हैं। रामेश्वर खड़ा हो जाता है।]

रामेश्वर—मिस्टर टॉमसन! एक बात मैं पूछना चाहता हूँ।

[टॉमसन और खन्ना रुक जाते हैं—दोनों आश्चर्य से रामेश्वर को देखते हैं।]

रामेश्वर—आपने परमानन्द को क्यों डिसमिस किया?

खन्ना—तुम पूछने वाले कौन हो?

रामेश्वर—(खन्ना से) तुम चुप रहो। मैं तुम से नहीं पूछ रहा हूँ। (टॉमसन से) आप जानते हैं कि उसकी लम्बी गृहस्थी है और वही अकेला कमानेवाला है। उसकी बर्ख़ास्तगी के माने हैं दस प्राणियों का भूखों मरना!

टॉमसन—मुझे दुःख है रामेश्वर; लेकिन मुझे खन्ना और परमानन्द के बीच में एक को रखना था और एक को अलग करना था।

रामेश्वर—और आपने एक शैतान को अपने साथ रखा; एक मनुष्य को अलग कर दिया।

खन्ना—और अब मिस्टर टॉमसन को मेरे और तुम्हारे बीच में एक को अलग करना पड़ेगा और एक को रखना पड़ेगा। जो आदमी एक अफ़सर का अपमान करता है, वह दूसरे का भी अपमान कर सकता है, मिस्टर टॉमसन यह अच्छी तरह जानते हैं।

टॉमसन—मिस्टर रामेश्वर, मुझे दुःख है कि आप आज इस तरह गैर-जिम्मेदारी की बातें कर रहे हैं। कर्तव्य का स्थान भावना के ऊपर है।

[रामेश्वर बढ़कर खन्ना का गला पकड़ लेता है और दबाने लगता है।]

रामेश्वर—कर्तव्य का स्थान भावना के ऊपर है—नहीं कर्तव्य ही सबसे ऊँची भावना है। खन्ना, तुम बचोगे नहीं!

(खन्ना आँखें फाड़ देता है। सब लोग रामेश्वर को छुड़ाते हैं, लेकिन रामेश्वर में अमानुषिक बल आ गया है। धीरे-धीरे रामेश्वर खन्ना का गला छोड़ देता है—खन्ना निर्जीव जमीन पर गिर पड़ता है।)

टॉमसन—यह क्या ! यह क्या !

रामेश्वर—मिस्टर टॉमसन ! अभी अभी मेरा लड़का और मेरी पत्नी मर चुके हैं। (श्यामलाल की ओर इशारा करता हुआ) इनसे पूछ लीजिये। और खन्ना—यह मनुष्य जानता था, आज सुबह ही मैंने इससे कहा था। अपनी खुदी में भूला हुआ आदमी ! (रामेश्वर कुरसी पर बैठ जाता है) दूसरों को सताने वाला—नष्ट करने वाला ! (कुछ रुक कर)

हाँ अब आप पुलिस बुला सकते हैं।

(रामेश्वर का सर लुढ़क जाता है—सब लोग दौड़ते हैं। देवनारायण रामेश्वर की नब्ज़ देखता है और सिर हिलाता है।)

परीक्षा

(रामकुमार वर्मा)

पात्र

डॉ० राजेश्वर रुद्र, डी० एस्-सी०—विश्वविख्यात वैज्ञानिक
आयु ५४ वर्ष

प्रोफ़ेसर केदारनाथ, एम० ए०—अंग्रेज़ी के प्रोफेसर—आयु ५० वर्ष

मिसेज़ रत्नानाथ, बी० ए०—प्रो० केदारनाथ की पत्नी—आयु २० वर्ष

मि० किशोरचन्द्र—डॉ० रुद्र का क्लर्क—आयु ३० वर्ष

रोशन—डॉ० रुद्र का नौकर—आयु ४० वर्ष

[समय—सात बजे शाम। डाक्टर राजेश्वर रुद्र, डी० एस्-सी० का आफिस। कमरे में संसार के वैज्ञानिकों के चित्र और चार्ट लगे हुए हैं। बीच में एक टेबुल है जिस पर फूलदान, फोन कागज़, क़लम आदि रक्खे हैं। आसपास दो-तीन कुर्सियाँ और एक काउच रखा हुआ है। दाहिने ओर एक टेबुल और कुर्सी है टेबुल पर टाइपराइटर और क़ागज़ आदि हैं। डॉ० रुद्र का क्लर्क किशोर टाइपराइटर पर काम कर रहा है। एक नौकर झाड़न से टेबुल, कुर्सी और चित्र सावधानी के साथ साफ़ कर रहा है कमरे में सन्नाटा है। केवल टाइपराइटर की आवाज़ हो रही है। एक मिनट बाद कमरे में घंटी बजती है, बाहर से शायद किसी ने स्विच दबाया है। किशोर रुक कर नौकर की ओर रुख़ करता है]

कि०—रोशन, देखो बाहर कौन है ?

[रोशन बायें दरवाजे से बाहर जाता है। किशोर काग़ज़ देखने लगता है। एक मिनट में रोशन एक कार्ड लेकर आता है और अदब से किशोर को देता है।]

कि०—[देख कर] प्रोफ़ेसर केदारनाथ। [सोचता है। रोशन से] उन्हें अन्दर ले आओ।

[रोशन बाहर जाता है। किशोर कुर्सी से उठ कर प्रो० केदारनाथ का स्वागत करने के लिए आगे बढ़ता है। बायें दरवाजे से प्रो० केदारनाथ का प्रवेश। प्रो० केदार ५० के लगभग हैं। बाल कुछ कुछ सफ़ेद हो गये हैं। अंग्रेजी वेशभूषा। हाथ में छड़ी।]

कि०—आइए, प्रोफ़ेसर केदारनाथ !

के०—[हाथ मिलाते हुए] थैंक्स। डॉ० राजेश्वर रुद्र नहीं हैं क्या ?

कि०—जी नहीं। वे अभी अपनी लेबोरेटरी से नहीं आये। (सोचते हुए) आप ही ने शायद ख़त भेजा था ? जवाब तो गया होगा ? बैठिए।

के०—हाँ, (कुर्सी पर बैठते हुए) जवाब तो मिल गया था, लेकिन मैं अपना प्रोग्राम नहीं लिख सका। मैंने अपना प्रोग्राम बदल दिया है। अब यहाँ सिर्फ़ एक दिन ही ठहर सकूँगा। काश्मीर परसों ही पहुँच जाना चाहता हूँ।

कि०—ऐसी जल्दी क्या है ?

के०—जल्दी ही है। मैं डॉ० रुद्र से माफ़ी माँगना चाहता था कि हम लोग आपके यहाँ नहीं ठहर सकेंगे। मेरी पत्नी भी मेरे साथ है। हम लोगों ने सोचा डॉ० रुद्र बहुत व्यस्त आदमी हैं, हम लोग उनके काम में.........

कि०—नहीं, आपके ख़त का जवाब लिखाते वक्त तो वे आपकी

बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। कहते थे—आप उनके पुराने दोस्त हैं। वे तो आपके ठहरने से खुश ही होंगे !

के०—यह उनकी मुहब्बत है। सोचिए, इतना नाम कमा कर वे वैसे ही सादे बने हुए हैं। दुनियाँ में उनका कितना नाम है ! साइंस के अखबार तो उनकी तारीफ़ों से भरे रहते हैं। हम लोगों को अभिमान है कि वे हमारे ही देश के हैं।

कि०—जी हाँ।

के०—कब तक आवेंगे ?

कि०—और दिन तो इस वक्त तक आ जाते थे, लेकिन आज न जाने क्यों देर हो गयी ? शायद काम पूरा न हुआ हो। आजकल वे एक बड़ी गहरी खोज में लगे हुए हैं।

के०—अच्छा ?

कि०—कहिये तो उन्हें फ़ोन करूँ ? (फ़ोन हाथ में लेता है)

के०—नहीं रहने दीजिए। उनके काम में विघ्न होगा। जब फ़ुरसत पायेंगे, चले जायेंगे। तब तक मैं जरा पोस्ट आफ़िस तक हो आऊँ। पोस्ट मास्टर से कुछ बात करनी है। काश्मीर का पोस्टर भी देना है।

कि०—पोस्ट आफ़िस तो बन्द हो गया होगा।

के०—लेकिन मुझे पोस्ट आफ़िस क्वार्टर्स जाना है।

कि०—जाने की क्या ज़रूरत है ? फ़ोन कर सकते हैं।

के०—नहीं। उनसे मिलना भी है। यों ही टहलता हुआ जाऊँगा। हाँ, अभी कुछ देर बाद आ सकता हूँ। आप डॉ० रुद्र को मेरा कार्ड दे दें।

कि०—(नम्रता से) बहुत अच्छा।

[केदार का प्रस्थान बायें दरवाजे से। किशोर अपनी टेबल पर आकर फिर टाइप करने लगता है। दो मिनट बाद रोशन आकर किशोर से कहता है—]

बाबू, हुजूर आ रहे हैं !

[किशोर उठकर अदब से खड़ा हो जाता है। डॉ० रुद्र का प्रवेश बायें दरवाजे से। आयु ५४ के लगभग। लेकिन काम अधिक करने से वृद्ध मालूम पड़ते हैं। आधे से अधिक बाल सफ़ेद हो गये हैं। गम्भीर व्यक्तित्व। अँग्रेजी वेषभूषा जो लापरवाही से पहनी गई है। सोने की कमानी का चश्मा। हाथ में छड़ी। क्लर्क सलाम करता है। डॉ० रुद्र सलाम का जवाब सिर हिला कर देते हैं। छड़ी कोने में रखते हैं और आराम से कुर्सी पर बैठ जाते हैं।]

रुद्र—एक गिलास पानी।

[किशोर अदब के साथ एक गिलास में आलमारी से बोतल निकाल कर पानी देता है। डॉ० रुद्र कुछ सोचते हुए धीरे धीरे पानी पीते हैं। किशोर अपने पाकेट से विजिटिंग कार्ड निकाल कर टेबुल पर रखता है। डॉ० रुद्र सोचते-सोचते विजिटिंग कार्ड पर नज़र डालते हैं, गौर से देखते हैं, फ़िर एकबारगी चौंककर—]

प्रो० केदारनाथ !

कि०—जी हाँ, वे आये थे।

रु०—क्या वे यहाँ नहीं ठहरेंगे ? यह कार्ड कैसा ?

कि०—जी नहीं। वे माफ़ी माँगने आये थे। वे एक दूसरी जगह ठहर गये हैं।

रु०—(जरा जोर से) तुमने उन्हें रोका क्यों नहीं मेरे आने तक ?

कि०—मैंने उनसे रुकने के लिए कहा था, लेकिन ज़रूरी काम से वे पोस्ट आफ़िस के क्वार्टर्स तक गये हैं। अभी लौट कर आने को कहा है।

रु०—(गम्भीरता से) हूँ। तुम्हें रोकना चाहिये था उन्हें मेरे आने तक। (कुछ देर तक रुक कर) आज की डाक ?

कि०—जी हाँ, तेरह पत्रिकाएँ हैं। आप के आराम करने के कमरे

के टेबुल पर सजा दी हैं। पढ़ने की जगह निशान भी लगा दिये हैं। बाक़ी पत्र हैं।

रु०—(कुर्सी पर आराम से टिकते हुए) कहाँ के हैं ? सुनाओ।

कि०—(पत्रों को उलट-पुलट कर एक पत्र निकालते हुए) यह फ्रैंकलिन इन्स्टीट्यूट वाशिंगटन के सेक्रेटरी का है। (पढ़ते हुए) प्रिय प्रोफेसर रुद्र, आपका आविष्कार विश्व की संपत्ति है, इन्स्टीट्यूट ने आप के नाम की अपनी सदस्यता के लिए सिफारिस की है। शीघ्र ही महीने भर के भीतर आप को सूचित करेंगे। बधाई। एच. एम. जोन्स, सेक्रेटरी।

रु०—(किंचित् स्मिति के साथ) एफ० एफ० आइ। फैलो अव् दि फ्रैंकलिन इन्स्टीट्यूट। अच्छा लिखो। (बोलते हैं, किशोर लिखता है।) प्रिय मिस्टर जोन्स, इन्स्टीट्यूट ने मुझे जो सम्मान प्रदान किया है उसके लिए मैं धन्यवाद देता हूँ, मेरी सेवाएँ सदा इन्स्टीट्यूट को समर्पित हैं। भवदीय—

कि०—(दूसरा पत्र निकालते हुए) कारनेगी इन्स्टीट्यूट बोस्टन का है। (पढ़ते हुए) प्रिय डाक्टर रुद्र, रोने को हँसी में परिवर्त्तन करने वाला आपका आविष्कार संसार के दुःख और कष्ट को दूर कर देगा। कृपया हमारी बधाई स्वीकार करें। जी. हैमिल्टन, रजिस्ट्रार।

रु०—प्रिय मिस्टर हैमिल्टन, पत्र के लिए धन्यवाद। संसार की शान्ति और सुख के लिए यह एक विनीत भेंट है। धन्यवाद भवदीय—

कि०—(तीसरा पत्र निकालते हुए) यह पत्र इलाहाबाद के विज्ञान के सम्पादक का है। लिखते हैं, सेवा में डॉ. राजेश्वर रुद्र, महोदय, आपने मस्तिष्क सम्बन्धी जो खोज की है और तत्सम्बन्धी जो पारिभाषिक शब्द दिये हैं उनसे विज्ञान-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है। इस विषय में आगे का लेख भेजने की कृपा करें। भवदीय, सत्यप्रकाश, सम्पादक।

रु०—प्रिय डॉ. सत्यप्रकाश, आपके पत्र के लिए धन्यवाद। आगामी लेख दो महीने बाद भेज सकूँगा। आजकल काम में बहुत व्यस्त हूँ। क्षमा करें। भवदीय।

कि०—(चौथा पत्र निकालते हुए) यह पत्र साइन्स इन्स्टीट्यूट बंगलोर का है। (इतने में रोशन दरवाज़े से आकर सलाम करता है और हटकर खड़ा हो जाता है। डॉ. रुद्र रोशन की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखते हैं।)

रो०—हुजूर, वो साहब यहाँ आये हुए हैं जो अभी आये थे। (कार्ड देता है)

रु०—(कार्ड लेकर बिना देखे हुए ही प्रसन्नता से) प्रोफेसर केदार? (कार्ड देखते हैं। किशोर से) मि० किशोर, बाक़ी चिट्ठियाँ नौ बजे के बाद? अभी इतनी चिट्ठियाँ ही...(डॉ. रुद्र उठ खड़े होते हैं। रोशन से) भेजो उन्हें। (रोशन जाता है) ओ नहीं, मैं खुद (प्रसन्नता से आगे बढ़ते हैं प्रो० केदार का प्रवेश। डॉ. रुद्र बड़ी उमंग से गले मिलते हैं।)

के०—(प्रसन्नता से) डाक्टर रुद्र, ओ रुद्र।

रु०—(अलग होकर) कब आये?

के०—अभी दोपहर को।

रु०—तुम आये थे अभी?

के०—हाँ लेकिन तुम थे नहीं। मैंने सोचा तब तक पोस्ट मास्टर मिस्टर विश्वास से मिल लूं। काश्मीर का एड्रेस कॉनफर्म कर दूँ। वे भी घर पर नहीं मिले, जैसा गया वैसा लौट आया।

रु०—बैठो, मुझे खबर नहीं दी? मेरे पास ठहरनेवाले थे तुम तो?

के०—(कुर्सी पर बैठते हुए) हाँ, इरादा तो यही था, लेकिन...।

रु०—(उत्सुकता से) लेकिन क्या? (कुर्सी पर बैठते हैं)

के०—मुझे अपना प्रोग्राम बदल लेना पड़ा।

रु०—कैसे?

के०—मुझे आज ही जाना है। मैं परसों काश्मीर पहुंच जाना चाहता हूँ।

रु०—लेकिन फिर भी मेरे पास ठहर सकते थे ?

के०—लेकिन ठहर नहीं सका। माफ करना डॉक्टर !

रु०—आखिर है क्या बात ? ठहरे कहाँ हो ?

के०—मिस्टर जे० के० वर्मा के यहाँ। जानते होंगे ट्रैफ़िक सुपरिण्टेण्डेंट हैं।

रु०—हाँ, हाँ, जानता हूँ। वे तो यहीं रहते है, कनाट सरकस में !

के०—उनकी पत्नी श्रीमती शीला मेरी पत्नी की सहेली हैं। वहीं ठहरना पड़ा। फिर सिर्फ़ एक दिन की बात......

रु०—अरे ठहरो। सब बातें एक साथ मत कहो। पहले यह बतलाओ, तुम्हारी पत्नी...तुम्हारी पत्नी तो...तुम तो अकेले थे...? एं, ज़रा ठहरो (किशोर से) मि० किशोर, तुम ज़रा बाहर के कमरे में बैठो। अभी बुलवाऊँगा। (किशोर गम्भीरता के साथ बायें दरवाजे से जाता है, रुद्र केदार की ओर मुड़ कर) हाँ, तो यह कैसे...तुम्हारी पत्नी...!

के०—(झेंपते हुए) फिर......फिर मैंने दूसरी शादी कर ली।

के०—(प्रसन्नता से उछल कर खड़े होते हुए) ओ अच्छा प्रो० केदार, बधाई। तुम में ज़िंदगी है। तबीयत है ! तुमने ख़बर नहीं दी ? (रोशन को पुकार) ओ रोशन (रोशन का बायें दरवाजे से प्रवेश) ज़रा चाय और मिठाइयाँ लाओ।

के०—नहीं, डॉक्टर रहने दो। मैं अभी नाश्ता करके आ रहा हूँ।

रुद्र०—अच्छा ? श्रीमती केदार कहाँ हैं ? (नौकर से) जाओ सिगरेट और पान-इलायची लाओ।

(रोशन बाहर जाता है)

के०—वे वहीं हैं, श्रीमती शीला के साथ। मैं जब चला था तो खूब बातें हो रही थीं। बहुत दिनों के बाद मिली हैं न ?

रुद्र०—उन्हें साथ नहीं लेते आये ? बुलवाऊँ ? ओः मैं खुद जाऊँ ? (प्रस्तुत होते हैं) लेकिन......(ठहर जाते हैं ।)

के०—नहीं, इतनी तकलीफ़ करने की क्या ज़रूरत ? जाने के पहले वे आपके दर्शन ज़रूर करेंगी । आपसे मिलने के लिए उन्होंने खुद मुझ से कहा था । बैठिए ।

रु०—(बैठते हुए) ऐसी बात है ? तो मैं ज़रूर मिलना चाहूँगा । प्रो० केदार, बधाई ।

के०—धन्यवाद डॉक्टर !

रु०—तो तुमने शादी कर ही ली ! अच्छा प्रोफेसर !

के०—मैं तो शादी करना ही नहीं चाहता था ! पचास के करीब हुआ, लेकिन फिर कर ही ली । सोचा...ज़िन्दगी ठीक हो जायगी !

रु०—ज़िन्दगी ठीक हो जायगी ! अच्छा किया । तब तो अच्छी ही होगी ?

के०—अच्छी ! बहुत अच्छी !!

रु०—अच्छा, अच्छा यह शादी हुई कैसे ?

के०—ऐसे ही । वे हमारे कालिज में पढ़ती थीं । उनके भाई मेरे मित्र थे, उन्होंने ही इसमें प्रारंभ किया । ऐसे ही एक दिन निश्चय हो गया ।

रु०—अच्छा, तब तो बहुत पढ़ी-लिखी होंगी ?

के०—ग्रेजुएट हैं ।

रु०—ग्रेजुएट ? अच्छा ! तब तो उमर कुछ बड़ी होनी चाहिए ।

के०—हाँ, यही बीस के करीब है ।

रु०—तब तो काम में सचमुच बड़ी मदद मिलेगी । भला बुरा समझने की उमर और फिर लियाक़त में ग्रेजुएट !

के०—वाक़ई डॉक्टर और फिर रत्ना बी० ए० पास है, लेकिन

रहन-सहन बहुत सीधा-सादा है। बरताव तो बिलकुल मेरी तबीयत के मुताबिक़ है!

रु०—बधाई। खुशी है! इस उमर में तुमको ऐसे ही साथी की जरूरत थी! (रोशन सिगरेट, पान-इलायची लाता है।) ओ, सिगरेट पियो, पान खाओ। रोशन, बाहर। (रोशन बाहर जाता है) ओ अच्छा! (केदार की सिगरेट जलाता है।)

के०—(सिगरेट का धुँआ छोड़ते हुए) मैं तो पहले सोचता था कि वे मुझ से शादी करेंगी भी या नहीं?

रु०—शायद यह बात तुम उमर के लिहाज़ से सोच रहे होगे?

के०—हाँ, कुछ-कुछ यही बात है। मेरी उमर ५० के क़रीब होगी, वे सिर्फ २० की हैं।

रु०—५० और (सोचते हैं।)

के०—और फिर एक ग्रेजुएट लड़की! जानते हो डॉक्टर, ये ग्रेजुएट्स क्या चाहती हैं? स्वतन्त्रता—आर्थिक स्वतन्त्रता—इकनामिक फ्रीडम - पति सिर्फ उनका साथी है—और पति का कर्त्तव्य क्या है? काम्पिटीशन में बैठे, आइ. सी. एस. में आवे!

रु०—(मुस्कराकर) घर में चार नौकर, मोटर और सैर सपाटे?

के०—बिलकुल ठीक। इसी बात से तो पहले मैं झिझक रहा था।

रु०—झिझकने की क्या बात प्रोफेसर? लड़की का स्वभाव ही ऐसा होगा कि पढ़ने लिखने में ज़्यादा दिलचस्पी होगी। नहीं तो वे तुम्हें पसन्द ही क्यों करती?

के०—सचमुच ऐसा ही।

रु०—फिर जब उन्होंने तुमसे विवाह कर लिया तो क्या इससे यह साफ़ नहीं मालूम होता कि वे मामूली लड़की नहीं है? वे उमर के मुकाबले में तुम्हारे स्वभाव या तुम्हारी लियाक़त को ज़्यादा क़ीमत करती हैं। वे गम्भीर स्वभाव की होंगी।

के०—नहीं, गम्भीर तो नहीं हैं। वे तो—

रु०—गम्भीर से मेरा मतलब यही है कि वे ज्यादा मिलनसार न होंगी।

के०—हाँ, वे ज्यादा मिलनसार तो नहीं हैं। बड़ी सरल हैं।

रु०—और वे प्रेम के बजाय तुम्हारा आदर ज्यादा कर सकती हैं।

के०—क्या तुम इन सब बातों से कुछ खोज करना चाहते हो? तुम तो बड़े भारी मनोवैज्ञानिक हो, मन की बहुत सी नयी बातें खोज निकालते हो। एक यह भी सही...

रु०—हाँ, है तो बहुत मजेदार केस केदार, लेकिन...

के०—लेकिन क्या...? मैं बहुत दिनो तक इसी समस्या में उलझा रहा। वे ग्रेजुएट हैं, बी० ए० पास हैं! लेकिन वे मेरी तबीयत के खिलाफ नहीं जातीं। मेरे लिए सब कुछ अपने हाथ से करती हैं। लेकिन यह सब वे क्यों करती हैं? क्या इस लिए कि वे मेरी पत्नी हो गयी हैं? या इस लिए कि वे अपने दिल से यह महसूस करती हैं?

रु०—उसके दृष्टिकोण में एक उदारता होगी। अच्छा, यह बतलाओ कि जब वे कालिज में पढ़ती थीं तो ज्यादा तो नहीं बोलती थीं?

के०—शायद बिना बोले हफ्ते गुज़र जाते थे। काम तो ठीक कर के लाती थीं, लेकिन बातचीत में हमेशा नपे-तुले शब्द। मैंने कभी उन्हें ज्यादा बोलते हुए देखा ही नहीं।

रु०—शायद उनकी शिक्षा-दीक्षा ही ऐसी हो। घर का वातावरण ही ऐसा होगा। उनके माता-पिता कभी आपस में न लड़े होंगे। पिता शायद सीधे और पुराने ख़्याल के हों।

के०—हाँ, यही बात है। उनके पिता एक गाँव के मालगुज़ार हैं।

रु०—यही बात हो सकती है। लेकिन उनके बी० ए० तक पढ़ने का कोई खास कारण होना चाहिए?

के०—उनके भाई का ज़ोर था कि वे बी० ए० तक ज़रूर पढ़ें।

उनके भाई एक जज हैं।

रु०—ठीक है। तो ज्ञान और शील दोनों बातें उनमें हैं। लेकिन......

के०—लेकिन क्या?

रु०—[सोचते हुए] कुछ नहीं।

के०—नहीं जरूर कुछ है!

रु०—तुमने कभी उन्हें अकेले सोचते हुए देखा है?

के०—वे कभी अकेली रहती ही नहीं।

रु०—क्या अकेले रहना नहीं चाहतीं?

के०—जो भी हो, लेकिन वे हमेशा मेरे साथ ही रहती हैं। मेरे साथ ही हँसती-खेलती हैं। शादी होने के बाद वे कहीं गयी ही नहीं। दो तीन दिन के लिए सिर्फ अपने पिता के यहाँ गयी थीं।

रु०—कभी तुमने उन्हें उदास देखा है?

के०—एक बार प्रो० उदयनारायण के यहाँ पुत्रोत्सव से लौटी थीं तो कुछ दिन तक कहती रहीं कि मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। लेकिन यह सब कहने के बाद वे शायद सम्हल कर हँसने को कोशिश करती थीं।

रु०—बहुत सुन्दर केस है, केदार!

के०—मैं चाहता हूँ डॉक्टर कि तुम परीक्षा करके देख लो, चाहे जिस तरह। मुझे इतमीनान हो जायगा कि वे जो कुछ हैं, कहाँ तक हैं, कितनी गहरी हैं।

रु०—मैं तो समझता हूँ कि वे जितनी हैं, सच्ची हैं। यही हो सकता है कि आपके लिए प्रेम होने के बजाय उनके दिल में आदर ज्यादा हो। वे आपके लिए सब कुछ कर सकती हैं, सब कुछ दे सकती हैं।

के०—मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ, लेकिन कभी-कभी उनके बरताव

की सरलता देख कर मुझे शक होने लगता है कि यह सब किसलिए ? मेरे लिए यह सब करने की क्या ज़रूरत है ? मालूम होता है कि वे मुझ पर दया करती हैं। और यह दया क्यों ? मुझे अपने काम में भुलाना चाहती हैं ?

रु०—शायद !

के०—शायद क्यों ? परीक्षण क्यों नहीं कर देखते तुम तो बड़े भारी मनोवैज्ञानिक हो। फिर मेरे दोस्त। मेरे साथ पढ़े हुए। मैं किसी के सामने अपने जीवन के रहस्य ही क्यों खोलता ? तुम मेरे दोस्त हो, इसलिए तुम से कोई चीज़ क्यों छिपाऊँगा ? जब मैं तुमको अपने दिल की बात बतला रहा हूँ फिर तुम क्यों इतना पीछे हटना चाहते हो ?

रु०—मैं पीछे नहीं हटना चाहता केदार, लेकिन परीक्षण करना शिष्टाचार के विरुद्ध है। मैं तुम्हारे साथ इतनी बेतकल्लुफ़ी से बातचीत करता हूँ, लेकिन तुम्हारी पत्नी से कभी मिला नहीं। मेरी इच्छा तो निरीक्षण करने की होती है लेकिन...नहीं, नहीं...अच्छा केदार, फिर बधाई।

के०—(व्यग्रता से) मुझसे कोई तकल्लुफ़ नहीं तो उन से भी नहीं। फिर वे तो आपको जानती हैं। और कौन आपको नहीं जानता ? फिर हमारे केस से अगर दुनिया होशियार बनती है तो इससे बढ़कर खुशी की कौन बात हो सकती है ? मैं भी प्रोफेसर हूँ, रिसर्च के लिए कोई रोक नहीं।

रु०—हाँ, मैं देखना चाहता था केदार, उनका मनोविज्ञान क्या है !

के०—तो तुम अपना परीक्षण कर सकते हो डॉक्टर ! मैं उन्हें यहाँ किस समय लाऊँ ?

रु०—आजकल मैं एक दूसरे परीक्षण में लगा हूँ।

के०—हाँ, मैंने सुना था कि तुम यंत्र की सहायता से रोने की आवाज़ को हँसी में बदल सकते हो !

रु०—(खड़े होकर घूमते हुए) इसमें विचित्रता क्या है ? मैंने हर एक स्वर के कम्पन का अध्ययन किया है। जैसे 'ई' है—संवृत् दीर्घ अग्र स्वर। इसके बोलने में जीभ के आगे का हिस्सा उठ जाता है। लेकिन 'ऊ' है—संवृत् दीर्घ पश्च स्वर। इसके बोलने में जीभ का पिछला भाग उठता है। मैंने रोने के इस 'ई' को हँसने के 'ऊ' में बदलने में सफलता पायी है।

के०—(हँसता हुआ) यह तो बड़े मज़े की बात है। फिर दुनिया में कभी रोना सुन भी न पड़ेगा। दुनिया से रोना ही उठ जायगा।

रु०—लेकिन इससे क्या ? रोने की भावना का उठ जाना ज़रूरी है। शायद हँसी सुनते-सुनते रोना भूल जाय !

के०—तब तो संसार का तुम बड़ा उपकार करोगे, डॉक्टर !

रु०—उपकार तो तब होगा जब मेरा नया परीक्षण पूरा हो जायगा।

के०—कौन सा ?

रु०—मैं एक ऐसा रस बनाने में लगा हुआ हूँ जिसके पीने से बूढ़ा आदमी भी जवान हो सकता है।

के०—(उछल कर) ऐं सचमुच ?

रु०—हाँ, बूढ़ा भी जवान हो सकता है।

के०—तब तो क्या कहना ! मुझे दोगे डॉक्टर ?

रु०—ज़रूर। लेकिन......(सोचने लगता है।)

के०—लेकिन क्या ? सोचने लगे ?

रु०—कुछ नहीं। मेरे मन में यही बात उठी कि तुम्हारी इस खुशी में क्या तुम्हारे बूढ़े होने की भावना नहीं पायी जाती ?

के०—(हँसकर) भला तुमसे मैं क्या छिपा सकता हूँ डॉक्टर,

लेकिन इस बात को छोड़ो। यह बतलाओ कि तुम उस रस का मुझ पर परीक्षण करोगे ?

रु०—हाँ, हाँ, इसमें तो मुझे ही आसानी होगी। मुझे कहीं दूर न जाना होगा।

के०—लेकिन यह बात असम्भव है, डॉक्टर ! एक रस से बूढ़ा आदमी जवान में तबदील हो जाय !

रु०—असम्भव क्यों है ? पुराने ज़माने में लोग कितने दिनों तक जीते थे ? जानते हो वे क्या करते होंगे ? मेरुदण्ड के नीचे मूलाधार-चक्र के सूर्य से जो विष का प्रवाह पिंगला नाड़ी से शरीर में होता है, वे उसे रोक देते थे और सहस्र-दल-कमल के ब्रह्मरन्ध्र के पास चन्द्र से इड़ा नाड़ी में जो अमृत का प्रवाह होता है उसे और भी उत्तेजित करते थे। आदमी में काया-कल्प होता था। वह हज़ारों वर्ष तक जीता था। वे यह सब कुछ किसी यौगिक क्रिया से करते थे, मैं यह एक तरल पदार्थ से करना चाहता हूँ। मूलाधारचक्र के विष को अपने रस से नष्ट करना चाहता हूँ।

के०—तब तो बड़ी अच्छी बात होगी !

रु०—(प्रसन्नता से) इसमें कोई शक नहीं, बड़ी अच्छी बात होगी। आदमी हज़ारों वर्ष तक जवान रहकर ज़िन्दा रह सकेगा। आजकल की ज़िन्दगी कितनी छोटी है ! ५०, ६०, ७०, बस। इतने में क्या होता है ? ज़िन्दगी में इतनी बहुत सी बातें हैं जिनके लिए ५०, ६० वर्ष कुछ भी नहीं हैं। आदमी की उमर तो और बड़ी होनी चाहिए। हमारे देश में तो औसत उमर सिर्फ २३ साल की है। हम और आप किसी दूसरे की ज़िन्दगी में साँस ले रहे हैं।

के०—सचमुच डॉक्टर, यह काम कर दो तो पहले हम तुम ही अमर हो जाएँ।

रु०—और रत्ना ? श्रीमती रत्ना ?

के०—हाँ, वह भी। (सिर हिलाता है)

रु०—उसे क्यों भूल गये ?

के०—(कटते हुए) आँ, आँ, वह भी। उसे कैसे भूल सकता हूँ ? डॉ०, इन बातों को...तुम्हारी इन खोजों को सुनकर तो मेरी तबीयत और भी हो आयी है कि तुम मेरी पत्नी की मनोवैज्ञानिक परीक्षा करो।

रु०—लेकिन मेरा साहस नहीं होता ! एक अपरिचित और फिर स्त्री।

के०—मैं जो कहता हूँ। वह मेरी स्त्री है। तुम्हें जानती है। फिर तुम भी उसे जानने लगोगे।

रु०—फिर भी......

के०—अच्छा, एक बात सुनो। भीतर के कमरे में चलो। मैं तुम्हें बतलाऊँ। (उठ खड़े होते हैं)

रु०—भीतर चलूँ ?

के०—हाँ, भीतर एक बात कह दूँ। उससे तुम सब समझ सकोगे।

रु०—अच्छा, चलो। एँ, ज़रा ठहरो। (ज़ोर से) किशोर (किशोर का प्रवेश) देखो, वे दो-तीन चिट्ठियाँ टाइप करो। मैं अभी आता हूँ, समझे ?

(डॉ० रुद्र का प्रोफेसर केदार के साथ दायें दरवाजे से प्रस्थान किशोर टाइप करता है। परदे के पीछे संगीत होता है। दो-तीन मिनट के बाद डॉ० रु० का प्रो० केदार के साथ हँसते हुए प्रवेश।)

रु०—अच्छी बात है। फिर आप कितनी देर बाद लौटेंगे ?

के०—यही पाँच मिनट में।

रु०—तो फिर भाई, मैं ज़िम्मेदार नहीं। तुम जानो।

के०—सब बातें मुझ पर छोड़ दो डॉक्टर, कम से कम मुझे विश्वास तो हो जायगा।

रु०—अच्छी बात है।

के०—तो फिर मैं जाता हूँ। [चलने के पूर्व सिगरेट जलाते हैं।]

अभिवादन-स्वरूप उठकर केदार का प्रस्थान। डॉ० रु० दूसरी कुर्सी पर बैठकर सोचने लगते हैं। थोड़ी देर बाद किशोर से] किशोर ?

कि०—[पास आकर] कहिए।

रु०—देखो, मैं जो परीक्षण कर रहा हूँ उसकी सारी चीजें लाकर सामने रखो।

कि०—वही 'अमर यौवन' की चीजें ?

रु०—हाँ। [आदेश-दृष्टि]

कि०—बहुत अच्छा।

[किशोर आल्मारी खोलता है। एक अलग टेबुल पर एक टाबेल, दो बोतलें एक काली और छोटे मुँह की, दूसरी सफेद और चौड़े मुँह की, बेसिन, एक फ्लास्क, एक हरे रंग का कपड़ा सावधानी के साथ रखता है।]

कि०—स्टोव जलाऊँ ?

रु०—हाँ। [बोतल उठा कर तरल पदार्थ देखते हैं।]

[किशोर स्टोव में स्प्रिट डाल कर दियासलाई से जलाता है। इस बीच में कमरे में जो चार्ट लगे हुए हैं, डॉ० रुद्र उनका निरीक्षण कर रहे हैं। देखते हुए वे कोट उतारते हैं फिर चौड़े मुँह की बन्द बोतल जिस में एक बल्ब लगा हुआ है, तिरछी करके देखते हैं। स्विच आन करने से बोतल के अन्दर का बल्ब जल उठता है बल्ब के प्रकाश में तरल पदार्थ को बड़ी सावधानी से देखते हैं। देखते हुए किशोर से—] स्टोव जल गया है ?

कि०—जी, पम्प करता हूँ। [स्टोव पम्प करता है]

रु०—थोड़ा पानी गरम करो।

कि०—जी, [पानी एक बोतल से निकालता है, उसे गरम करता है।]

रु०—कल जो परिणाम निकले हैं, वे सिलसिलेवार हैं ?

कि०—जी हाँ,

रु०—उन्हें मेरे पास रखो।

[किशोर टेबुल से दो कागज निकाल कर बोतलों के पास दूसरी टेबुल पर रखता है।]

रु०—यह नोट पढ़ कर सुनाओ। [एक कागज किशोर के हाथ में देता है।]

कि०—(लेते हुए) जी। [नोट पढ़कर सुनाता है।] मूलाधार चक्र से आगे बढ़ते हुए इड़ा नाड़ी पाँच बार मुड़ती है। तब वह आज्ञाचक्र के समीप पहुँचती है। रस का घनत्व इतना होना चाहिए कि वह नाड़ियों के तरल पदार्थ को प्रभावित कर मूलाधार चक्र में कम से कम चौबीस सेकेण्ड में अपनी संपूर्ण प्रक्रिया कर सके। उस रस के तत्त्व में गन्धक....(बाहर आवाज होती है। रोशन का प्रवेश। वह अदब से एक कोने में खड़ा हो जाता है। डॉ० रु० रोशन की ओर जिज्ञासा-दृष्टि से देखते हैं।)

रोशन—हुजूर, प्रोफेसर केदारनाथ साहब और एक बीबी जी आयी हैं।

रु०—अच्छा, बाहर के कमरे में। (किशोर से) पानी गरम होगया ?

कि०—जी, गुनगुना।

रु०—ठीक, स्टोव बन्द कर दो। तुम बाहर जाओ। देखो 'साइंटिफ़िक अमेरिकन' अपने साथ लोगे और उसमें छपे हुए मेरे लेख का संक्षेप लिखोगे।

कि०—वही 'दि डेफ़ीनीशन अव् ए क्राई' ?

रु०—हाँ, वही। बाहर के कमरे में बैठोगे और प्रोफ़ेसर तथा उन की पत्नी को यहाँ भेजोगे।

[किशोर स्टोव बंद करता है, टेबुल पर से 'साइंटिफ़िक अमेरीकन' की प्रति उठाता है। प्रस्थान। डॉ० रुद्र काली बोतल उठाकर आलमारी में रखते हैं और एक दूसरी नीली बोतल निकालते हैं। फिर गंभीरता के साथ अभ्या-

गतों का स्वागत करने के लिए उठते हैं। कोट पहनते हैं और दरवाजे के करीब तक बढ़ते हैं।] आइए, [प्रोफ़ेसर केदारनाथ और उनकी पत्नी रत्ना का प्रवेश। रत्ना का गौर वर्ण। सुन्दर मुख-मुद्रा। नीली रेशमी साड़ी। जैसे एक शांत बिजली बादलों के वस्त्र पहन कर आई है। सौम्य और गम्भीर।]

के०—(हर्षोल्लास के साथ) डॉ० रुद्र, ये मेरी पत्नी श्रीमती रत्ना नाथ और (रत्ना से) ये......

रत्ना—(हाथ जोड़ कर) प्रणाम !

रु०—(हाथ जोड़ कर) नमस्कार !

रत्ना—(प्रसन्नता से) आपके दर्शन कर कृतार्थ हुई।

रु०—(किंचित् स्मिति के साथ) आप से मिलकर खुशी हुई। आइए; बैठिए। (डॉ० रुद्र श्रीमती रत्ना को काउच पर बिठलाते हैं। केदार और रुद्र पास की कुर्सियों पर बैठते हैं। रुद्र, केदार और रत्ना को पान देते हैं। केदार सिगरेट जलाते हैं।)

रत्ना—क्षमा कीजिए, मैं पान नहीं खाती। इलायची ही लिए लेती हूँ।

रु०—(संकोच स्वर में) ज़रा माफ़ कीजिये, मैंने अपने अध्ययन और मिलने के कमरे को एक में मिला रखा है।

रत्ना—(हँस कर) ओह, इसमें कौन-सी बात है ? कमरे में तो सजावट है ही। इतने सुन्दर चित्र लगे हुए हैं। शायद संसार के वैज्ञानिकों के हैं। (गहरी दृष्टि से देखते हुए) उधर आइन्सटीन हैं, ये मारकोनी, ये जगदीशचन्द्र बोस, ये मेघनाथा साहा......(दीवालों पर दृष्टि फेंक कर) आपका चित्र नहीं दीख पड़ता ?

के०—हाँ, तुम्हारी फ़ोटो कहाँ है, डॉक्टर ? (प्रश्नपूर्ण दृष्टि)

रु०—(वीतरागी के भाव से) क्या आवश्यकता है ? विज्ञान के स्वामियों के फ़ोटो लगा करते हैं; सेवकों के नहीं। (बात बदलते हुए) कहिए मार्ग में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?

र०—जी नहीं, धन्यवाद।

के०—डॉ० रुद्र, आप से मिलने की अभिलाषा में शायद इन्हें रास्ते की तकलीफ़ कोई तकलीफ़ नहीं मालूम हुई। और अभी जब मैंने इनसे आप से मिलने के बारे में कहा तो ये ऐसे ही तैयार हो गयीं। इन्हें आप के दर्शन की बड़ी अभिलाषा थी।

र०—जो आज सफल हुई।

रु०—धन्यवाद। मुझे बहुत खुशी हुई आप से मिलकर। मैं तो आपके प्रोफेसर केदार का साथी हूँ। हम दोनों साथ पढ़ते थे। इन्होंने अंग्रेज़ी ली थी, मैंने भौतिक विज्ञान। ये कानून पढ़ते रहे, मैंने अपने ही आप दर्शन पढ़े। इसके बाद हम लोग अलग हुए। मैं डी० एस्-सी कर दिल्ली आ गया, ये वहीं प्रोफेसर हो गए। अगर भौतिक विज्ञान के बजाय मैं दर्शन ही लेता तो शायद प्रोफेसर केदार के साथ होता।

के०—मुझे तो खुशी होती।

र०—लेकिन संसार का अपकार होता। भौतिक विज्ञान और दर्शन को मिला कर आपने खोजें कीं, उतनी कौन करता? ऐसा वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक संसार में कठिनाई से मिलेगा।

रु०—आप तो बहुत अच्छी हिन्दी बोलतीं हैं।

र०—हिन्दी मातृ-भाषा है न? अपने देश की राष्ट्र-भाषा।

रु०—हमारे देश को आप जैसी आदर्श देवियों की आवश्यकता है।

र०—मुझे लज्जित न कीजिए। आप अपनी महानता से ऐसा कह रहे हैं इनकी (केदार की ओर संकेत कर) इच्छा थी कि रास्ते में दिल्ली रुक कर आपके पास ठहरें। मैं भी यही चाहती थी कि विश्व-विख्यात महापुरुष के सत्संग में कुछ समय सार्थक करूँ किन्तु उत्साह नहीं हुआ। मैं नहीं जानती थी कि आप इतने महान् होकर इतने सरल हैं।

रु०—(गम्भीर स्मिति के साथ) धन्यवाद।

र०—फिर शीला मेरी सहपाठिनी हैं। उन्होंने लिखा था कि काश्मीर जाते समय मेरे यहाँ न ठहरोगी तो लड़ाई होगी।

रु०—हाँ, आजकल लड़ाई का ज़माना है! जिसे देखो वही लड़ता है। (हास्य) लेकिन आज शाम को खाना मेरे यहाँ ही होगा।

के०—नहीं डॉक्टर, हम लोगों को देर हो जायगी। आज ही जाना है। धन्यवाद।

र०—श्रीमती रुद्र तो होंगी भीतर?

रु०--नहीं, वे नहीं हैं। दस वर्ष हुए वे मुझे संसार में काम का भार सौंप कर चल गयीं! उनकी असामयिक मृत्यु ने ही मुझे खोज के काम की ओर बढ़ाया। मैं मनुष्य-जीवन को अधिक स्थिर करना चाहता हूँ। काश वे जीवित होतीं!

(रत्ना के मुख से अनायास आह निकल जाती है।)

के०—(वातावरण बदलते हुए) रत्ना, डॉ० रुद्र की खोज अचरज में डाल देने वाली है। इन्होंने एक ऐसा रस बनाया है जिस से आदमी बहुत दिनों तक ज़िन्दा रह सकता है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इनके रस से बूढ़ा भी जवान हो सकता है।

र०—[आश्चर्य से] सचमुच?

रु०—लेकिन अभी वह रस ठीक तरह से तैयार कहाँ है?

के०—क्यों उसमें कमी क्या है?

रु०—उसके अन्तिम रूप के प्रयोग नहीं हुए।

के०—तो मुझ पर कर सकते हो।

रु०—ज़रूर, तैयार होने पर करूँगा।

के०—लेकिन अभी क्या हानि है? रस तो क़रीब क़रीब बन ही चुका।

रु०—हाँ, बन तो चुका है। लेकिन एकबारगी मनुष्य पर प्रयोग करना ठीक नहीं है।

के०—क्यों ठीक नहीं ? मेरी उम्र ५० के लगभग है। काम अब भी बहुत करना है। कभी थकावट मालूम होती है। मुझ पर प्रयोग करोगे तो मेरा ही भला करोगे।

रु०—मुमकिन है अभी उसका पूरा असर न हो।

के०—तो उसमें क्या हानि है ? एक दम २५ वर्ष का न हुआ तो दस-पाँच बरस छोटा हो ही जाऊँगा।

रु०—[रहस्यपूर्ण मुस्कान से] श्रीमती रत्ना, आपको क्या राय है।

र०—[संकोच से] मैं क्या कहूँ ?

रु०—प्रोफ़ेसर केदार, अभी रस तैयार नहीं हुआ। यह देखो, अभी टेबल पर ही रखा हुआ है [उठ कर बोतल उठा कर उसे हाथों से झुलाते हैं] जब बन जायगा तो सचमुच मेरा जीवन सफल हो जायगा।

र०—आप तो अमर हो जायँगे!

रु०—कौन जाने ? लेकिन अब अधिक जी कर क्या करूँगा ? जो कुछ थोड़ा-बहुत करना था कर चुका। और अब अकेला हूँ। मेरी स्त्री मेरा रास्ता देख रही होगी।

र०—आप ऐसी बातें न कहें। हृदय भर आता है। अभी आप न जाने क्या-क्या खोज करेंगे!

के०—तब तक डॉ० रुद्र मैं तो तुम्हारे प्रयोग से लाभ उठाऊँगा ही। और टेबुल पर यह रस देख कर तो मेरी और इच्छा हो गई है। डॉक्टर, एक खुराक मुझे दे दो। रत्ना......प्रश्न सूचक दृष्टि]

र०—[आकुलता से] अभी वह तैयार कहाँ हुआ है ? इस हालत में वह कहीं हानि न पहुँचावे ?

के०—डॉ० रुद्र का रस और हानि पहुँचावे ? असम्भव, अब मैं अपनी तबीयत नहीं रोक सकता। तुम्हें देना ही होगा।

रु०—इतना आग्रह ?

के०—हाँ, अब यह उमर मुझे तकलीफ़ देने लगी है। काम भी नहीं कर सकता, नींद भी नहीं आती।

रु०—अच्छा; तब दूँगा! लेकिन काश्मीर हो आओ। तब तक मेरे सब तो नहीं कुछ प्रयोग अवश्य हो चुकेंगे। अभी ऐसी ज़रूरत भी नहीं। काश्मीर जा रहे हो। वहाँ जाकर तो खुद तुम में ताज़गी आ जायगी।

के०—यह तो ठीक है। लेकिन यहीं से काश्मीर का असर लेता चलूँ। तुम्हारे रस से जो कुछ कमी रह जायगी वह वहाँ पूरी हो जायगी।

रु०—मैं नहीं जानता।

के०—डॉक्टर, मैं नहीं जानता हूँ। मुझे रस दो।

रु०—श्रीमती रत्ना, इसकी ज़िम्मेदारी आप पर है?

र०—मैं क्या कहूँ!!

के०—(उठकर) डॉक्टर, इसकी ज़िम्मेदारी खुद मुझपर है। दो वह रस। एक दोस्त की ज़रा-सी बात पूरी नहीं कर सकते?

रु०—श्रीमती रत्ना?

र०—(केदार से) देखिए, आप अभी रस क्यों पी रहे हैं? अभी वह रस तैयार कहाँ है?

के०—वह रस ज़हर तो नहीं कि मैं मर जाऊँगा। उससे कुछ न कुछ लाभ होगा ही। और रत्ना, जिन्दगी मुझे बहुत प्यारी मालूम होती है। मुझे इस दुनिया में और रहने दो।......

र०—(बीच में) मैं अब कुछ न कहूँगी।

के०—डॉक्टर, कृपया......

रु०—अच्छी बात है। (उठकर) प्रोफेसर अगर तुम युवक हो गये तो श्रीमती रत्ना को भी प्रसन्नता होगी?

र०—मैं तो अब भी प्रसन्न हूँ।

के०—डॉक्टर, वे ठीक कह रही हैं। लेकिन मेरी खुशी में वे और भी खुश होंगी।

रु०—अच्छा, तो फिर रस तुम्हें दे दूँगा। इस कुर्सी पर बैठो।

(टेबुल के पास की कुर्सी की ओर संकेत करते हैं।)

के०—(अत्यानन्द से) ओः; धन्यवाद डाँक्टर! ओः धन्यवाद! तुम कितने अच्छे हो डॉक्टर! (दूसरी कुर्सी पर बैठते हैं) तुम मेरे पक्के मित्र हो।

रु०—मैं कब न था? (रत्ना से) श्रीमती रत्ना, प्रोफेसर अब युवक हो जायेंगे। बिलकुल नवीन...!

र०—डॉ रुद्र, देखिए इन्हें नुकसान न होने पावे। मैं जानती हूँ कि आपके हाथ में ये सुरक्षित हैं, फिर भी मुझे घबराहट मालूम होती है। देखिए डाक्टर, आपका प्रयोग ठीक हो!

रु०—कोशिश तो मेरी आपके हित में होगी, लेकिन रस के इस अवस्था के विषय में मैं ठीक नहीं कह सकता।

के०—मैं ठीक कह सकता हूँ। अपनी सूरत तुम खुद नहीं देख सकते, मैं देख सकता हूँ। रत्ना तुम इतना घबराती क्यों हो?

रु०—मैं अजीब उलझन में हूँ।

के०—वह उलझन अभी दूर होती है। क्यों डॉक्टर, जवान होने पर मुझे आप पहचान सकेंगे?

रु०—(रत्ना से) आप प्रोफेसर केदार को पहचान सकेंगी (रत्ना चुप रहती है।)

के०—डॉक्टर, इनकी पहचान काफ़ी तेज़ है! मैं होली में इनके कुत्ते को खूब रंग देता हूँ, तब भी ये उसे पहचान लेती हैं। तो क्या मुझे न पहचान सकेंगी? (हास्य)

र०—(लज्जित होकर) क्या कहते हैं आप!

के०—अच्छा रत्ना, मालवीय जी का कायाकल्प तो ठीक नहीं

हुआ। डॉ० रुद्र की सहायता से मेरा कायाकल्प होगा। देख लो, मेरे इस दुबले-पतले शरीर को, इन सफेद बालों को, फिर ये देखने न मिलेंगे। आखिरी दर्शन हैं।

र०—आप बहुत हँसी करते हैं। (रुद्र से) डॉ० रुद्र आपके सामने तो ये बहुत विनोदी हो गये हैं।

के०—आने वाली घटनाएँ पहले ही अपनी सूचना दे देती हैं। अब युवक होने जा रहा हूँ, विनोद न सूझे ?

रु०—क्षमा करें श्रीमती रत्ना, हम लोग आपस में बहुत बेतकल्लुफ़ हैं। अच्छा प्रोफेसर !

के०—हाँ, मैं बिलकुल तैयार हूँ !

रु०—(टावल देते हुए) यह टावल भिगो कर अपने बाल गीले कीजिए। स्टोव पर गरम पानी है।

[केदार उठते हैं, टावल भिगो कर अपने सिर से रगड़ते हैं। इस बीच में डॉ० रुद्र परिणाम के काग़ज़ जो क्लर्क ने टेबुल पर रख दिए हैं, देखते हैं। रत्ना अवाक् हो कभी डॉ० रुद्र की ओर और कभी प्रोफेसर केदार की ओर देखती है।]

रु०—(अपने आप) तेईस दशमलव सात, फिर दशमलव शून्य शून्य एक।

के०—मेरे बाल गरम पानी से भीग गये।

रु०—(कागज़ से अपना ध्यान हटाकर) अच्छा कुर्सी पर बैठिए। (केदार कुर्सी पर बैठते हैं। रुद्र टेबुल पर से हरा कपड़ा उठाकर केदार के सिर से बाँधते हुए कहते हैं।)

सहस्रदल कमल तालू के मूल सिर के ऊपरी भाग तक है। मैं इस कपड़े से उसे कसता हूँ। सहस्रदल कमल का हरे रंग से सामंजस्य है। जब आप रस पी लें तो इस कपड़े को खोल लें।

के०—डॉक्टर, आप ठीक कहते हैं। रत्ना, यह चमत्कार देखो !

रु०—और देखो, जो रस मैं आपको दूँगा, उसे एक घूँट ही में पी जाना होगा। उसे एक बारगी मूलाधारचक्र में पहुँचना चाहिए। धीरे-धीरे पीने से नुक़सान होने का अंदेशा है।

र०—(भराई आवाज़ में) जल्द ही पी जाइएगा!

के०—बहुत जल्दी।

रु०—और साथ ही यह सोचना पड़ेगा—कहना पड़ेगा—कि मैं ज्वान हो रहा हूँ?

के०—ठीक है डाक्टर, मैं ऐसा ही कहूँगा, ऐसा ही कहूँगा।

रु०—और देखिए, मैं दवा निकालने जाऊँगा, वैसे ही अँधेरा हो जाना चाहिए। नहीं तो उजेला आँखों की राह होकर दवा के गुण को नष्ट कर देगा। इस नीली बोतल में उजेले का प्रवेश नहीं है।

के०—ठीक; मालवीय जी ने भी कायाकल्प के प्रयोग अन्धेरी कोठरी में किये थे।

रु०—(रत्ना से) अच्छा श्रीमती रत्ना, आप उस दूर की कुर्सी पर बैठ जावें। प्रोफेसर केदार, इस समय आप श्रीमती रत्ना की बात नहीं सोचेंगे। सारी दुनियाँ को भूल कर खुद को देखेंगे।

के०—ऐसा ही होगा।

(रत्ना दूर की कुर्सी पर जाकर बैठती है)

रु०—तो अब मैं रस निकालता हूँ।

(डॉ० रु० बोतल हाथ में लेते हैं। स्टेज का सारा प्रकाश बुझा दिया जाता है। केवल बोतल और गिसास के उठाने और रखने की आवाज़ आती है। गिलास में तरल पदार्थ का 'छल-छल' शब्द होता है।)

रु०—प्रोफेसर, मैंने यह गिलास में रस डाल दिया।

के०—लाइए। (केदार रस पी जाते हैं) डॉक्टर, मैंने यह रस पी लिया मैंने सिर का कपड़ा भी खोल लिया।

रु०—अब जवान होने की भावना सोचिए।

के० (धीरे धीरे प्रत्येक शब्द पर रुकते) मैं···जवान···हो···रहा··· हूँ। मैं···जवान ··हो···रहा···हूँ···

(आधे मिनट तक शान्ति रहती है ।)

रु०—इस समय रस का असर हो गया होगा। कुछ अनुभव कर रहे हैं ?

के०—हाँ, मुझ में बहुत अन्तर हो रहा है। मालूम होता है जैसे चींटियाँ चल रही हैं। हाथ पैर में कोई लहर दौड़ रही है। आँखों में कुछ बिजली सी चमक रही है।

र०—(उद्विग्नता से) क्या··· ?

रु०—(जीभ की सीटी से रत्ना को बीच ही में बोलने से मना करता है।) प्रोफेसर केदार, अब आप जवान बन रहे हैं, यह तो होगा ही। लेकिन लहर ऊपर से नीचे जा रही है या नीचे से ऊपर ?

के०—नीचे से ऊपर।

रु०—(आश्चर्य से) एँ ?

[डॉक्टर रुद्र शीघ्र ही प्रकाश करते हैं उजेले में दीख पड़ता है, केदार बिलकुल बूढ़े हो गये हैं। उनके सभी बाल सफेद हो गये हैं। आँखें कम-ज़ोर होकर बार-बार झपक जाती हैं हाथ पैर शिथिल हो गये हैं।]

रु०—(उद्वेग से) यह क्या।

र०—(विह्वल होकर) अरे यह क्या ? (कुर्सी पर अचेत हो जाती है।)

रु०—(कुछ क्षण अवाक् रह कर धीरे-धीरे) प्रोफेसर, यह क्या हुआ श्रीमती रत्ना बेहोश हो गयीं ?

के०—(करुण स्वर में) रत्ना ? (उठना चाहता है।)

रु०—प्रोफेसर, वहीं बैठिए। मैं सहायता करता हूँ (रत्ना के मुख पर पानी छिड़कते हैं) ओफ़, श्रीमती रत्ना इतने कमज़ोर दिल की हैं ! [हवा करते हैं।]

के०—डॉक्टर, इन्होंने मेरी यह हालत जो देख ली।

रु०—[रत्ना को पुकारते हैं।] श्रीमती रत्ना ! श्रीमती रत्ना !!

[हवा करते हैं। रत्ना होश में आती है।]

र०—[होश में आकर परिस्थिति की स्मृति आने पर] ओह, यह क्या हो गया !

[कुर्सी पर अत्यन्त शिथि [illegible] शीघ्रता से केदार के पास आकर जमीन पर बैठ जाती है।]

रु०—[ढाढ़स देते हुए] श्रीमती रत्ना, आप अपना हृदय मजबूत करें।

र०—ओह, ये कैसे हो गये !

रु०—मैं कहता था कि अभी रस तैयार नहीं है। सहस्रदल से अमृत उठने के बजाय मूलाधार का विष सारे शरीर में फैल गया ! उसी से बुढ़ापा आ गया।

र०—आह [अत्यन्त दुःख की मुद्रा।]

रु०— श्रीमती, मुझे माफ़ करें। मेरे ही रस से यह सब कुछ हुआ ! लेकिन इसमें मेरा कसूर बहुत थोड़ा है। प्रोफेसर केदार ने ही इतना जोर दिया। [केदार के समीप कुर्सी रखते हुए] उठिए, कुर्सी पर बैठ जाइए !

र०—ओह, यह क्या हो गया ! [कुर्सी पर बैठना अस्वीकार करती है।]

के०—[खाँसता हुआ] डॉक्टर, मैं समझता था कि तुम्हारे रस से फ़ायदा ही होगा। [खाँसी आती है।] ओह, मेरे हाथ-पैर कितने कमजोर मालूम हो रहे हैं, रत्ना !

र०— [प्रार्थना के स्वर में] डॉक्टर, अब मैं क्या करूँ ? क्या आप के रसायन में कोई ऐसी चीज़ नहीं जो इन्हें पहले जैसी अवस्था में ला दे ?

रु०—श्रीमती रत्ना, ऐसी कोई चीज़ नहीं है ! अब इन्हें उस समय तक इसी हालत में रहना होगा जब तक कि मैं अपने रस को फिर से पूरा सिद्ध न कर लूँ। रस के सिद्ध होने पर मैं फिर इन्हें पहले जैसा बना लूँगा।

र०—कब तक ये इसी तरह रहेंगे ?

रु०—यही तीन चार बरस !

र०—[आश्चर्य और क्षोभ से] तीन चार बरस ! बहुत होते हैं। लेकिन आप तो कहते थे कि काश्मीर से लौटने पर इन्हें आप रस दे सकेंगे, अब कह रहे हैं तीन-चार बरस !

रु०—ठीक है। मैं पहले समझता था कि मेरा रस तैयार हो चुका है; उसके केवल अन्तिम प्रयोग बाकी हैं, लेकिन प्रोफेसर केदार पर रस का यह परिणाम देखकर मुझे सारी विधियाँ फिर से करनी पड़ेंगी और इन्हीं में कम से कम तीन-चार वर्ष का समय लग जायगा।

र०—ओह, डॉक्टर यह क्या हो गया !

रु०—लेकिन श्रीमती रत्ना, आप यह क्यों नहीं सोचतीं कि इस बात से मेरे नाम को कितना धक्का लगेगा ? डॉ० रुद्र इस बुरी तरह से अपने परीक्षण में फ़ेल हुए ! संसार के लोग क्या कहेंगे ! (फूलदान के एक फूल को हाथ में लेकर मसलते हुए) डॉ० रुद्र पागल है, डॉ० रुद्र मूर्ख है।

के०—(धीरे-धीरे) डॉक्टर सारा कसूर मेरा ही है। मैंने ही तुम्हें रस देने के लिए ज़बरदस्ती की। ओह !

र०—(दीनता से) डॉ० रुद्र, कृपा करके ऐसा रस दें जिससे ये फिर वैसे ही हो जायँ ? आप तो संसार के बड़े वैज्ञानिक हैं। उसी रस को कुछ बदल कर दे सकते हैं।

रु०—श्रीमती रत्ना, जो आप कहती हैं, वह वैसा सरल नहीं है।

र०—डॉ० रुद्र, मैं सब कुछ करने के लिए तैयार हूँ। जिन्दगी भर

की कमाई दे सकती हूँ। (हाथ जोड़ कर झुक जाती है।) जीवन भर उपकार न भूलूँगी।

रु०—(संतोष देने के स्वर में) श्रीमती रत्ना, आप दुखी न हों। मैं अपने सारे काम छोड़ कर इसी पर खोज करूँगा और जल्दी से जल्दी इस रस की सिद्धि करूँगा। प्रोफेसर केदार, तब तक आप मुझे माफ़ करें।

के०—(रत्ना से) रत्ना, अब मैं काश्मीर नहीं चल सकता ! चलने फिरने की ताक़त भी नहीं मालूम देती। अब मुझे घर ले चलो ?

र——(आह भर कर) आह डॉ० रुद्र, इन्हें अच्छा कर दो !

रु०—श्रीमती रत्ना, यह समय बहुत कठिन है।

र०—ओह ! यह क्या हो गया ! (सिर पकड़ कर झुक जाती है।)

रु०—लेकिन, एक तरह से मैं इस कठिनाई को हल कर सकता हूँ।

र०—(उमंग से उठकर) कैसे ? डॉक्टर कैसे ? जल्द बतलाइए ?

रु०—मैं देख रहा हूँ, प्रोफेसर केदार से अधिक आपकी हालत खराब है। आप इतनी दुखी हैं तो केदार आप को देखकर और भी दुखित होंगे। मैं एक काम कर सकता हूँ।

र०—वह क्या ? (उत्सुकता की दृष्टि)

रु०—मनोविज्ञान के अनुसार यह परिस्थिति केवल एक बात से हट सकती है वह यह कि आप भी बूढ़ी बन जायँ। (रत्ना गम्भीर हो जाती है।) उस वक्त न प्रोफेसर केदार को तकलीफ़ होगी न आपको ! फिर रस तैयार होने पर मैं आप दोनों को अच्छा कर लूँगा।

र०—(गम्भीरता से धीरे-धीरे) मैं भी बूढ़ी बन जाऊँ ? (उसी कुर्सी पर बैठ जाती है।)

रु०—हाँ, आपको कष्ट न होगा।

र०—डॉक्टर, क्या मेरे बूढ़े होने से प्रोफेसर साहब को शान्ति मिलेगी ?

रु०—ज़रूर। वे चाहे कुछ न कहें किन्तु उन्हें तभी शान्ति मिलेगी। क्यों प्रोफेसर केदार ?

(केदार कुछ नहीं बोलते।)

र०—(सोचते हुए) मुझे भी बूढ़ी होना चाहिए !

रु०—हाँ, (स्वर में दृढ़ता)

र०—तो...तो फिर मुझे वही रस दीजिए। डॉक्टर, मैं इस जिंदगी से घृणा करती हूँ। डॉक्टर, यह उमर मुझे नहीं चाहिए। डॉक्टर, इस अभिशाप से मुझे बचाइए। डॉक्टर......

रु०—ठहरिए, ठहरिए श्रीमती रत्ना ! ज़रा सोचिए।

र०—अब सोचने का अवकाश नहीं है। मैं भी इसी रास्ते से जाना चाहती हूँ।

रु०—ठीक है, आपको जाना चाहिए लेकिन इस पर विचार कर लीजिए। आप अपना बलिदान करने जा रही हैं।

र०—मैं इसके लिए तैयार हूँ। मुझे जीवन की शान्ति किसी तरह नहीं मिलेगी।

रु०—श्रीमती रत्ना आप बहुत कुछ खो रही हैं।

रु०—(तीक्ष्णता से) डॉ० रुद्र, मेरे पति की यह दशा देख कर आप मुझ से परिहास नहीं कर सकते।

रु०—(गांभीर्य से) श्रीमती रत्ना ! मैं आप से परिहास नहीं करता—नहीं कर सकता। डा० रुद्र ने जीवन भर किसी से परिहास नहीं किया।

र०—मुझे क्षमा करें डॉक्टर, मैं इस समय अपने में नहीं हूँ।

रु०—मैं आप से सिर्फ़ अपने सम्बन्ध में सोचने के लिए कह रहा था जिससे आप मुझे दोष न दें।

र०—मैं आप को दोष नहीं दूँगी। आप शीघ्र ही अपना प्रयोग करें। (अनुनय)

के०—(एक साथ ही) ठहरो, मैं ऐसा नहीं होने दूँगा।

र०—नहीं, ऐसा होगा। मैं इस समय आपका निषेध न मानूँगी।

के०(धीरे धीरे) मैं नहीं चाहता रत्ना, कि तुम...तुम अपनी ज़िन्दगी बर्बाद करो। मैं तो मौत के करीब-करीब पहुँच गया। मेरे पीछे तुम क्यों अपनी दुनिया खाराब करती हो ?

र०—मेरी दुनिया अब रही कहाँ ? आपकी इस दशा में मुझे यही करना चाहिए।

के०—रत्ना, यह रस तुम मत पियो।

र०—मुझे पीने दीजिए।

के०—यदि मैं यह रस तुम्हें न पीने दूँ ?

र०—ऐसी दशा में कदाचित् मुझे आत्म-हत्या करनी पड़े।

के०—ओह रत्ना ! रत्ना ! डॉ० रुद्र ! (उद्विग्न होते हैं)

रु०—प्रोफेसर, अगर श्रीमती रत्ना की इच्छा होगी तो वह रस वे पी सकती हैं।

र०—हाँ डाक्टर, मैं पीना चाहती हूँ।

रु०—ठीक है। मैं अपना रस दूँगा। आप को अपने सिर पर हरा कपड़ा न बाँधना होगा। आप लोगों के मस्तिष्क की बनावट कपड़े की आवश्यकता नहीं रखती। केवल एक घूँट में रस पी जाना होगा।

र०—मैं एक ही घूँट में पी लूँगी।

रु०—केवल अँधेरा करना होगा। आप के कुछ सोचने और कहने की आवश्यकता नहीं है। बुढ़ापे के लिए कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं होती। वह आप से आप आ जाता है। सिर्फ आँखें बन्द कर लीजिएगा।

र०—दीजिए वह रस मुझे !

रु०—अच्छी बात है।

(प्रकाश बुझ जाता है। बोतल के उठाने और रखने की पुनः आवाज़ आती है ।)

र०—मैंने रस पी लिया, डॉक्टर !

के०—रत्ना, तुमने यह क्या किया !

र०—आप शान्त रहिए, मुझे कोई कष्ट नहीं है ।

रु०—आप कुछ अनुभव कर रही हैं, मिसेज़ रत्ना ?

र०—कुछ नहीं ।

रु०—स्त्री के परिवर्तन में कोई कठिनाई नहीं होती। अब आप भी बूढ़ी हो गयीं आप के सभी बाल सफेद हो गये होंगे। अब मैं उजेला करता हूँ ।

[डा० रु० स्विच 'आन' करते हैं । प्रकाश में दीख पड़ता कि रत्ना पूर्ववत् ही बैठी हैं। उसके बाल सफेद नहीं हुए। वह पहले ही की तरह रूप-रंग वाली है। प्रो० केदार फिर वैसे ही हो गये। उनकी बालों की सफेदी दूर हो गयी। वे पूर्ववत् बैठे मुस्करा रहे हैं।]

र०—(अपनी ओर देखकर) अरे, मुझ में तो कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। यह कैसा रस ? [प्रो० केदार की ओर देखती है। प्रसन्नता और उल्लास से] अरे, आप तो फिर वैसे ही हो गये, फिर वैसे ही हो गये ! (केदार के समीप जाती है) ओ डॉक्टर; डाक्टर, वे फिर वैसे ही हो गये।

के०—(मुस्करा कर) हाँ, मैं तो फिर वैसा ही हो गया !

र०—(हर्षातिरेक से) रस तो मैंने पिया और अच्छे ये हो गये। आपका रस तो जादू है, डॉक्टर !

रु०—(मुस्कार कर) श्रीमती रत्ना, प्रो० केदार का बुढ़ापा और आपकी जवानी एक सी हो गयी, मालूम होता है। और आप दोनों फिर वैसे ही हो गये !

र०—ओह डॉक्टर आप क्या हैं, कुछ समझ में नहीं आता! (रत्ना हँसते-हँसते काउच पर बैठ जाती है। प्रोफेसर केदार मुस्कराते हैं।)

रु०—(अत्यन्त शिष्टता के साथ) श्रीमती रत्ना, मैं सब से पहले आप से क्षमा माँगता हूँ।

र०—कैसी क्षमा? (केदार से) देखिए, ये क्षमा क्यों माँगते हैं?

के०—जो जितना बड़ा होता है, वह उतना ही नम्र होता है।

रु०—देवीजी, आप कितनी महान् हैं। आप की प्रशंसा मुझसे किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। आप के दर्शन कर मैं धन्य हुआ।

के०—मैं धन्य हुआ डॉक्टर! ओफ़, रत्ना भारत की रत्ना हैं।

र०—यह आप दोनों क्या कह रहे हैं?

रु०—देवीजी, यह मेरा केवल एक परीक्षण था। न कोई बूढ़ा हुआ न जवान। थोड़ा-सा मनोविनोद होता किन्तु उससे आप को कष्ट हुआ। इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

र०—(गंभीर होकर) मैं कुछ समझी नहीं डॉक्टर!

रु०—मैं केवल नारी का मनोविज्ञान जानना चाहता था और इस के लिए मैंने आप के पति-देव प्रोफेसर केदारनाथ जी से आज्ञा ले ली थी। इन्होंने स्वयं इस प्रयोग में दिलचस्पी ली। इन्होंने स्वयं एकान्त में इस प्रयोग की रूप-रेखा खींची थी। मैंने 'अमर-यौवन' का रस तो आलमारी में बन्द कर दिया। केवल शर्बत आप लोगों ने पिया।

र०—(गंभीर होकर) अच्छा, तो आप लोगों ने मेरी परीक्षा ली।

रु०—जिससे आप का गौरव बढ़ा।

के०—मुझे सुख और संतोष मिला।

र०—डॉ० रुद्र, प्रशंसा के लिए धन्यवाद, किन्तु इससे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई।

रु०—इसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ।

के०—(हाथ जोड़ते हुए) मैं भी......(उठ खड़े होते हैं।)

र०—(बीच में) अरे, यह क्या करते हैं ? आप दोनों मुझे लज्जित करना चाहते हैं !

रु०—नहीं, आप वास्तव में देवी हैं । मैं तो पहले ही जानता था कि आप सर्वगुण सम्पन्न हैं । आज संसार भी जान गया कि आपका आदर्श कितना महान है ।

र०—अच्छा, यह बताइए डॉक्टर, यदि आपका केवल यह प्रयोग था तो ये बूढ़े कैसे हो गये ?

के०—मैं बूढ़ा कैसे हो गया यह पूछना चाहती हो ? पहली बार जब अँधेरा हुआ तो मैंने अपने सिर में चाक रगड़ ली । मैंने अपना सिर गीला कर ही रखा था । बाल सफेद हो गये । तुम्हें कुछ दूर कुर्सी पर इसीलिए तो बिठला रक्खा था कि तुम आसानी से मेरे भेद को न जान सको ।

र०—(कौतूहल से) ऐसी बात थी ? आप बड़े वैसे हैं । फिर... आप फिर से कैसे पूर्ववत् हो गये ? बालों की सफ़ेदी क्या हुई ?

के०—जब दूसरी बार अँधेरा हुआ तो मैंने गीली टावल से अपना सिर फिर ज़ोर से रगड़ लिया । सारी चाक टावल में लग गयी । मेरे बाल फिर पहले जैसे हो गये !

र०—(अन्यमनस्कता से) आप दोनों ने एक जाल रचा था । मैं तो लुटते लुटते बच गयी !

के०—इसके लिए मैं माफ़ी चाहता हूँ । जुरमाने में मैं वही गीली टावल दे सकता हूँ जिसमें चाक लगी हुई है । (गीली टावल कोट के भीतर से निकाल कर उपस्थित करता है ।)

रु०—नहीं, इसका जुरमाना मैं दूँगा ।

के०—(प्रसन्नता से) जो जुरमाना दे, रत्ना, मैं तो कृतार्थ हो गया, मेरी सारी शंकाएँ निर्मूल हो गयीं !

र०—(आश्चर्य से) कैसी शंकाएँ ?

रु०—कोई शंकाएँ नहीं। आप तो देवी हैं। आपको कष्ट पहुँचाने की जिम्मेदारी मुझ पर है। मैं जुरमाना दूँगा। आज शाम को मैं एक बच्चे के रोने की आवाज़ हँसी में बदल कर आपका मनोरञ्जन करूँगा।

र०—सचमुच ! अनेक धन्यवाद। लेकिन हम लोग तो आज जा रहे हैं।

रु०—लेकिन मेरे अनुरोध से आप को रुकना होगा। क्यों प्रोफेसर केदार ?

के०—रत्ना, जब डॉ० रुद्र इतना आग्रह कर रहे हैं तो आज रुक जाने में क्या हानि है ? एक दिन की देर और सही।

र०—अच्छी बात है, लेकिन एक शर्त पर। आप हम लोगों की जवानी और बुढ़ापे की बात किसी से न कहें। (हास्य)

रु०—कभी नहीं। कभी नहीं। कोई जवान और बूढ़ा हुआ कहाँ ?

अट्टहास, परदा गिरता है।)

सूर्योदय

[श्री कमलाकान्त वर्मा]

पात्र

निर्झरिणी	:	एक नर्तकी
मंजरी	:	नर्तकी की सखी
समुद्रगुप्त	:	भारत के सम्राट्
चन्द्रसेन	:	सम्राट् के सामन्त
आचार्य शशांक	:	प्रसिद्ध कलाकार
जलधर	:	आचार्य शशांक के साथी

सैनिक, प्रहरी आदि

प्रथम दृश्य

(निर्झरिणी का श्रृङ्गार-गृह। दुग्ध-फेन से शुभ्र स्फटिक के एक मरकत जटित आसन पर बैठी हुई निर्झरिणी वातायन में लगे चाँदी के तारों की बुनावट से झिलमिलाते नीलांशुक में से छन कर आती हुई शशि-किरणों को अपने स्वर्ण-कंकणो में जड़े हुए हीरक-कणों की नोकों पर उछालती हुई अपने अन्तर की किसी सघन वेदना की कसक मानों अपने निःश्वासों और उच्छ्वासों से सारे वातावरण में बिखेर देना चाहती है। निर्झरिणी के पीछे खड़ी मञ्जरी उसकी चोटियों में जूही की कलियाँ गूँथती हुई मानों रजनी के अञ्चल पर तारे उगाती जा रही है। पर निर्झरिणी का उधर ध्यान ही नहीं है। उसकी आँखों के सामने है। विश्व का मौन अंधकार, आँखों के भीतर है हृदय की मूक व्यथा और दोनों के बीच में है इन हीरक-कणों का नीरव कम्पन, जो मानों उसकी आंतरिक बेचैनी की ही बाह्य अभिव्यंजना बनकर बिखर रहा है।

रात्रि की नीलिमा और भी सघन हो गई है, चन्द्रमा के ऊपर से एक हल्का धौल-साँवला अभ्र-खंड भागता चला जा रहा है, बहुत दूर पर एक कोई पक्षी न जाने क्यों रह-रह कर बोल रहा है, और तभी हवा के झोंके से वातायन का नीलांशुक फड़फड़ा उठता है और साथ ही निर्झरिणी आकाश के अनन्त के प्रसार में न जाने कहाँ-कहाँ विचरण कर अपने आप में लौट सी आती है।)

नि०—समझा तूने मञ्जरी ?

म०—(एकाएक निस्तब्धता भंग होने से कुछ विस्मित सी होकर) क्या ?

नि०—आर्यावर्त्त के एकातपत्र सम्राट् आर्य समुद्रगुप्त......

म०—हाँ।

नि०—लक्ष्मी और सरस्वती के वरदानों का संगम उनकी राजसभा......

म०—सही।

नि०—और उसकी प्रधान नर्तकी के रूप में उसका एक रत्ना निर्वाचित की जाने वाली हूँ मैं—निर्झरिणी !

म०—तेरा अहोभाग्य तेरे पूर्व-जन्म के पुण्यों का उदय, जो तू सम्राट् समुद्रगुप्त की राज-सभा का एक रत्न बन कर......

नि०—रत्न मैं......मैं रत्न......परमञ्जरी, यह रत्न होता क्या है ?

म०—प्रकृति की कलापूर्ण उँगलियों से सँवारे जा कर पत्थर के जिस टुकड़े में सौंदर्य का सागर सिमट कर जा बैठता है उसी को कहते हैं रत्न।

नि०—सौंदर्य का सागर...पर सौंदर्य की भी कोई परिभाषा है ?

म०—सौंदर्य वही जो बहुमूल्य हो।

नि०—परपृथ्वी के गर्भ और सागर के तले की जिस गहराई तक

मूल्य लगाने वाला पारखी नहीं पहुँच पाता, वहाँ पड़े हुए उस रत्न का मूल्य क्या है ?

म०—कुछ भी नहीं।

नि०—इसलिए महत्त्व सौंदर्य का नहीं मूल्य का है। रत्न इसलिए रत्न नहीं है कि प्रकृति ने उसे वैसा बनाया है, किंतु इसलिए कि संसार उसे वैसा समझता है। मेरा सौंदर्य, मेरी कला स्वतः महान नहीं उसे महत्त्व प्रदान करने के लिए सम्राट् की आँखों की आवश्यकता है। कला की महत्ता उसकी ऊँचाई नहीं, दूसरों की आँखों से उस पर बरसाया जाने वाला मूल्य है......किंतु....

म०—किंतु यह तो संसार का नियम है कि......

नि०—कोई भी वस्तु अपने मूल्य के अनुसार ही ग्रहण की जा सकती है, यह संसार का नियम है। किन्तु इस नियम और मूल्य की पहुँच वहीं तक है, जहाँ तक ग्रहण का आग्रह उसे खींच कर ले जाय........ और मैं सोचती हूँ कि......(चाँदनी सामने से खिसक कर कोने में चली गई है, आकाश नक्षत्रों से वैसा ही जगमगा उठा है, जैसे निर्झरिणी की वेणी जूही के फूलों से। सहसा एक काला मेघ चन्द्रमा को ढँक लेता है। अंधकार में हीरक कण मचल से रहे हैं। इतने में ही निर्झरिणी के हाथ पकड़ कर मंजरी उसे अपनी ओर घुमा लेती है।

म०—क्या सोचती है तू ?

नि०—जिस मदिरा को अधरों से लगा कर संसार पागल हो उठता है, संसार के अधरों तक पहुँचने के लिए स्वयं वही क्यों इतनी पागल रहा करती है। संसार रत्न को ढूँढ़ता है उसके सौंदर्य के लिए, पर रत्न समुद्रतल से जिसे ढूँढ़ने निकलता है वह क्या है ? मैं सोचती हूँ, संसार में ग्रहण का इतना आग्रह क्यों ?

(सामन्त चन्द्रसेन का प्रवेश)

चन्द्रसेन—ग्रहण का आग्रह अस्तित्व का तकाज़ा है। निर्झरिणी !

म०—सामन्त चन्द्रसेन !

नि०—अस्तित्व के तकाजे से भी बड़ा एक तक़ाज़ा होता है सामन्त चंद्रसेन, और वह होता है जीवन का। प्रत्येक जीवन अस्तित्व है, पर प्रत्येक अस्तित्व जीवन नहीं। अतः अस्तित्व का तक़ाज़ा चाहे कठोर कितना भी हो, पर उतना मर्मस्पर्शी नहीं होता जितना जीवन का और जीवन का तक़ाज़ा क्या है, तुम्हें मालूम है ?

चन्द्रसेन—पर मैं पूछता हूँ, तुम जीवन को अस्तित्व से पृथक करके क्यों देखती हो ?

नि०—इसलिए कि प्रायः अस्तित्व का तक़ाज़ा जीवन के बलिदान की माँग बन कर आता है। अस्तित्व के झाड़ झंखाड़ में जीवन फूल बन कर उगता है, पर वह उगता है इसलिए नहीं कि अपना पराग बेच-बेचकर उस झाड़-झंखाड़ को वह अपनी सार्थकता का हिसाब देता रहे, किन्तु इसलिए कि अपने उस पराग को दिशाओं में लुटा कर वह विश्व की निधि बन सके। अस्तित्व और जीवन यहीं पृथक हैं सामन्त !

च०—पर तुम यह क्यों भूल रही हो निर्झरिणी, कि जीवन के फूल को उसका प्राण-रस अस्तित्व का झाड़-झंखाड़ ही पहुँचाता है। उस फूल का पराग उस के मूल की सबलता पर ही...।

नि०—निर्भर है × सच है ! पर प्रश्न यह है कि फूल के ऊपर मूल का ऋण क्या इतना बड़ा है कि फूल का सारा यौवन मूल की मुट्ठी में गिरवी बन कर पड़ा रहे ?

च०—प्रकृति ने फूल को आकाश में खिला कर और मूल पृथ्वी में गाड़ कर यह एक अपरिवर्तनीय नियम बना दिया है कि......

नि०—कि आकाश पर शासन पृथ्वी का ही रहे। प्रकृति का ऐसा अपरिवर्तनीय नियम ? असंभव !

च०—जिसे तुम अपने वीणा-विनिन्दित कंठ के समस्त तारों की

सम्पूर्ण प्रकृति से असंभव ठहराना चाहती हो, वही अपनी संभाव्यता सिद्ध करने के लिए भारत-सम्राट के आज्ञा-पत्र के रूप में तुम्हारे सम्मुख आज आ खड़ा हुआ है......यह लो !

म०—आज्ञा-पत्र ?

च०—हाँ, तुम आज से भारत-सम्राट् की राजसभा का एक रत्न हुई।

म० रत्न ?......

च०—और भारतवर्ष की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी ! आज से तुम्हें राजकीय मर्यादा प्राप्त हुई, राजकोष तुम्हारे लिए खुला रहेगा, राजशक्ति तुम्हारी रक्षा करेगी। तुम्हारे अभिनन्दन में कोटि-कोटि मस्तक झुका करेंगे, तुम्हारी अभ्यर्थना में कोटि-कोटि कंठों से जय-ध्वनि होगी, स्वयं अपने हाथों से सम्राट् तुम्हें सम्मान प्रदान करेंगे......निर्झरिणी, इस शुभ अवसर पर मेरी हार्दिक बधाई !

(आज्ञा-पत्र देता है)

म०—निर्झरिणी !...निर्झरिणी !... (उसके गले से लग जाती है)

निर्झरिणी—(मंजरी को अपने गले से छुड़ाने की चेष्टा करती हुई) और सामन्त चन्द्रसेन ! यदि...यदि मैं इस राज-सम्मान को आदर-पूर्वक अस्वीकार कर दूँ तो ?

च०—तो ?...निर्झरिणी, मैं अकल्पनीय संभावनाओं की कल्पना में अपना सर दुखाना नहीं चाहता।

म०—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। निर्झरिणी, तू क्या पगली हो गई है ?

नि०—मैं और पगली ? नहीं मंजरी, पागलपन की साधना का सौभाग्य उन्हें प्राप्त होता है, जिन का जीवन अस्तित्व का वशवर्त्ती नहीं। मुझे तो अब अपने जीवन को अस्तित्व का दिया हुआ ऋण

चुकाने के लिए अपने सौंदर्य के कलश में कला की मदिरा लेकर उसे बेचने के लिए लक्ष-लक्ष आँखो के सामने खड़ी होना ही पड़ेगा । मुझे रत्न बना कर आज संसार मुझे खरीदना चाहता है और मुझ में... मंजरी, तुम धैर्य रखो...जीवन की इतनी परिपूर्णता नहीं है कि संसार के आँके हुए मूल्य का अपमान कर मैं अपने आप को बिकने से रोक सकूँ। मेरी अपनी ही आँखों में मैं और मेरा सब कुछ तभी तक महान है जब तक संसार उसे महान समझता है...और तुम प्रसन्न हो मंजरी, कि संसार मेरी इस लघुता को ही मेरा मूल्य बना कर मुझे खरीदने जा रहा है।

म०—पर तू यह सब कह क्या रही है ? मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता।

नि०—फिर भी मैं कहती हूँ सामन्त चन्द्रसेन, एक बात तुम न भूलना। जिसे तुम प्रकृति का अपरिवर्तनीय नियम कहते हो, वह सचमुच इतना अपरिवर्तनीय नहीं है, जितना तुम्हारी धारणा है। मैं भले ही उसका परिवर्तन न कर सकूँ पर, मैं ऐसी शक्ति की कल्पना कर सकती हूँ जो...जो...जो...

च०—रुक क्यों गई ?

नि०—यही कहने के लिए सामन्त, कि भारत-सम्राट ने यह सम्मान प्रदान कर मेरे ऊपर जो कृपा की है; मैं उसके लिए कृतज्ञ हूँ और...

म०—और ?

नि०—और उसे मैं सविनय शिरोधार्य करती हूँ। सम्राट की और क्या आज्ञा है ?

च०—पूर्णिमा को राजसभा में उपस्थित हो तुम्हें सम्राट का उपहार ग्रहण करना होगा और उसी रात्रि को राजसभा में तुम्हारी कला का प्रथम प्रदर्शन होगा।

नि०—स्वीकार है।

च०—तो इस स्वीकृति की सूचना सम्राट को दी जा सकती है ?

नि०—अवश्य।

च०—मुझे तुम से ऐसा ही आशा थी निर्झरिणी, बधाई !

(प्रस्थान)

नि०—मुझ से ऐसी ही आशा थी ?

म०—हाँ, और सब से अधिक मुझे। (गले से लग जाती है)

नि०—मुझ से ऐसी ही आशा थी...उन्हें, तुझे...मुझे भी, किन्तु क्या इस संसार में आशातीत कुछ भी नहीं ? आशा के क्षितिज के उस पार...(वातायन की ओर घूम जाती है। नीलांशुक में से उलझ कर आते हुए हवा के झोंके से उसकी चोटी के फूलों की पंखुड़ियाँ सिहर उठती हैं। चाँदनी में हीरक-कण एक बार फिर झिलमिला उठते हैं। अपने आप में से निकलकर मानों फिर निर्झरिणी अनन्त में विलीन हो जाती है)

द्वितीय दृश्य

[आचार्य शशांक का आश्रम। आश्रम के द्वार पर अंगूर की लताएँ झूल रही है, जिनमें से होकर आती हुई प्रभात-किरणें दक्षिणी वायु की थपकियों के ताल पर मानों नर्तन कर रही हैं। एक कुशासन पर शशांक बैठे हैं, सामने वीणा है, बगल में मृदंग लिए जलधर। 'वीणा' का बजना, जान पड़ता है, अभी-अभी समाप्त हुआ है, क्योंकि आस-पास खड़े मृगशावकों की आँखों में अभी भी उन्माद छलक रहा है। शशांक की आँखें मुँदी हुई है, जान पड़ता है उनके कानों में गूँजती हुई संगीत-लहरी छाया-रूप धारण कर पलकों के नीचे नाचती फिर रही है। सहसा एक मृग-शावक उनका उत्तरीय पकड़ कर खींच लेता है और उनकी आँखें खुल जाती हैं]

शशांक—(मृग-शावक के मुख में से अपना उत्तरीय छुड़ाते हुए) जलधर, इस वीणा के पतले तारों पर चढ़ कर आये हुए मेरी कला के संदेश को तुमने आज सुना ?

जलधर—जिस समय मेरे हाथों में मृदंग होता है शशांक, उस समय मैं केवल एक ही चीज़ सुनता हूँ और वह......

शशांक—यह वीणा नहीं होती और शायद इसीलिए तुम अभी नहीं समझ रहे आज मैं एक कितनी महान अनुभूति से टकरा गया हूँ। जलधर मेरी कला ने मुझे आज समझा दिया है कि पृथ्वी पर कलाकार ईश्वर का रचनात्मक प्रतिनिधि है और......

जलधर—और शायद यह कि तुम भी उन्हीं कलाकारों में से एक हो...ठहरो...मैं देखूँ तुम्हें ज्वर तो नहीं हो रहा है... (नाड़ी देखना चाहता है)

शशांक—(हाथ छुड़ाकर) मैं कलाकार हूँ या नहीं प्रश्न इसका नहीं है। प्रश्न यह है कि कलाकार है क्या और आज मुझे ध्रुव विश्वास हो आया है कि ईश्वर के निर्माण किये हुए विश्व का जो पुनर्निर्माण कर सके वही कलाकार है। कला की साधना ईश्वरत्व की चरम आराधना है।

जलधर—तब तो मंदिर में बैठकर पत्थर पूजने वाले को ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार मानना होगा क्यों कि—

शशांक—कदापि नहीं। ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है और उत्तर में मनुष्य ने रचना की है ईश्वर के एक प्रतिद्वंद्वी की, जो मंदिरों और देवालयों में बैठकर नैवेद्य ग्रहण करता है और राज-सिंहासन पर बैठकर राजत्व। संसार के सारे देवी-देवते, या राजे-महाराजे ईश्वर के उसी एक प्रतिद्वंद्वी के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं और उनके चरणों पर चढ़ाई हुई सारी भेंट मनुष्य की अपनी उपहासास्पद दुर्बलता का ही लज्जा-जनक मूल्य है। जलधर सच पूछो तो ईश्वर के इस जघन्य

प्रतिद्वंद्वी को अपदस्थ कर मानवता को वास्तविक ईश्वर-दर्शन के मार्ग पर खींचा लाना कलाकार के जीवन का मुख्य औचित्य है।

जलधर—किंतु यदि जीवन का ऐसा औचित्य सिद्ध करने से जीवन पर ही आ बने तो ?

शशांक—तो कला की साधना सार्थक हुई।

जलधर—ना बाबा ! तुम्हारी वीणा तुम्हें ऐसे संदेश भले ही सुनाया करती हो, पर अपना मृदंग तो समझदार है। उसकी तो बस एक ही शिक्षा है—लय में रहो, अर्थात् परम्परा का ध्यान रखो......

शशांक—परम्परा ! क्या है यह परम्परा ? जो आज युग-युग से मंदिरों, राज सिंहासनों और अन्य वंदनीय स्थानों पर बैठ कर मनुष्य से उसकी अपूर्णता का कर वसूल कर रहा है, उसी की निर्धारित की हुई भावना के लिए न्यूनतम संघर्ष की रेखा ही तो ? काश, मेरी कला की साधना में इतनी क्षमता होती, मेरी वीणा के तारों में इतना तनाव होता, मेरी उँगलियों में इतना स्पंदन होता कि इस परम्परा को मैं... कौन है ? (बाहर दरवाजा खटखटाता है) अन्दर आइए ! (सामन्त चन्द्रसेन का प्रवेश)

शशांक—(उठकर उनका अभिवादन करते हैं) किसके स्वागत का सम्मान मुझे यह मिल रहा है ?

चन्द्रसेन—मैं हूँ सामन्त चन्द्रसेन।

शशांक—अहोभाग्य ! पधारिए ! (दोनों बैठ जाते हैं) क्या सेवा करूँ ?

च०—आप को यह जान कर हर्ष होगा कि मैं सम्राट का आज्ञापत्र लेकर आप को सूचना देने के लिए उपस्थित हुआ हूँ कि आज से आप राजसभा के रत्नों में से एक निर्वाचित किये गये हैं और......

शशांक—राजसभा का रत्न मैं ? सामन्त ! क्षमा करेंगे, आप भूल तो नहीं कर रहे हैं ?

च०—भूल करने के लिए मैं ने भारत के महान गायक आचार्य शशांक को कष्ट नहीं दिया है। मैं जो कह रहा हूँ उसका अनुमोदन सम्राट का आज्ञा-पत्र स्वयं करेगा (आज्ञापत्र निकालते हैं)।

श०—(रोक कर) मैं समझ गया। सम्राट ने मेरी गायन कला से प्रसन्न हो शायद मुझे यह अवसर-प्रदान करने की कृपा की है कि मैं अपनी कला से उन्हें और उनके पार्श्ववर्त्तियों को और भी प्रसन्न कर सकूँ, यही तो ?

च०—दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि आप आज से राज-सभा के प्रधान गायक नियुक्त हुए हैं। आज से राजकीय साहाय्य, संरक्षण और सम्मान के आप अधिकारी होंगे। आज रात्रि को राज-सभा में आप की कला के प्रदर्शन का आयोजन होगा और वहीं सम्राट अपने हाथों आपको रत्न निर्वाचित होने का सम्मानपत्र......

श०—सामन्त, क्या मैं यह समझने की धृष्टता कर सकता हूँ कि मुझे अपनी राजसभा का रत्न निर्वाचित करने में सम्राट का अभिप्राय मेरी कला को और साथ ही मुझे भी सम्मानित करने का है ?

च०—इस में भी कोई संदेह हो सकता है ?

श०—तब आप सम्राट को मेरी ओर से धन्यवाद देते हुए उनसे कृपया यह कह देंगे कि अपने जीवन में सम्राट की राजसभा का रत्न बनने से बढ़कर दूसरा अपमान शशांक कोई नहीं मानता।

च०—यह...यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?

श०—आप जो सुन रहे हैं उसके तीन कारण हैं पहला यह कि कला की साधना मेरे लिए तपस्या है और उसका प्रदर्शन किसी के मनोविनोद के लिए नहीं किया जा सकता, दूसरा यह कि सम्राट की राजसभा तक मेरी कला चलकर पहुंचे उससे अधिक आसान मैं यह समझता हूँ कि राजसभा ही उठकर मेरी कला के पास आवे और तीसरा यह कि, सामन्त आप क्षमा करेंगे, मेरी दृष्टि में रत्न और वेश्या

दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। दोनों का महत्त्व और उनका मूल्य उनकी सुन्दरता है। आशा है सम्राट इस पदवी को अस्वीकार करने की मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगे।

च०—आचार्य, आपके इस उत्तर से मुझे आश्चर्य हो रहा है।

श०—सामन्त, मेरी भावना आपके लिए इतनी अनपेक्षित है, मुझे इसका खेद है।

च०—पर राजा का वरदान अस्वीकृत होने पर शाप से भी अधिक भयानक हो सकता है, यह आप को मालूम है ?

श०—ज़रा सी ठेस लगने से ही जो वरदान अभिशाप बन सकता है वह किसी राजा का ही हो सकता है, यह मुझे मालूम है और यह एक और महान कारण है कि मैं उसे स्वीकार न करूँ।

च०—खैर, इस राजकीय सम्मान को स्वीकार करना न करना आपके हाथ है। पर सम्राट की आज्ञा है कि आज आप राज-सभा में उपस्थित हों और...

श०—पर मैंने कोई अपराध तो किया ही नहीं।

च०—तो क्या राजसभा में जो जाते हैं, सभी अपराधी ही होते हैं ?

शशांक०—बिना कोई अपराध किये राजसभा में जाना स्वयं एक अपराध है।

च०—क्षमा करेंगे, इसका अर्थ मैं नहीं समझा।

शशांक०—उसे न समझना ही आप के लिए अधिक लाभकर होगा सामन्त !

च०—तो फिर राजाज्ञा का पालन करने में आप को आपत्ति है ?

शशांक०—मुझे आज्ञा दे सके, ऐसा मैं एक ईश्वर के अतिरिक्त और किसी को नहीं मानता।

च०—अर्थात् आप सम्राट् के शासन के कायल नहीं।

शशांक०—मैं ऐसे किसी शासन का कायल नहीं, जिसकी भुजाएँ लोहे की और जिह्वा अग्नि की हो।

च०—तो फिर......

शशांक—अपने सम्राट की आज्ञा आपने मुझे सुना दी, अपनी आत्मा की आज्ञा मैंने आपको।

च०—किन्तु, यह राजाज्ञा का अपमान भी है और शासन के प्रति विद्रोह भी।

शशांक—जिस सुन्दरता से आप अपराधों का नामकरण कर सकते हैं, यदि उतनी ही सुन्दरता से मैं वे अपराध कर सकता तो मैं अपने को कलाकार समझता। पर मेरा तो अपराध केवल एक ही है और वह है बिना कोई अपराध किये राजसभा में न जाने का सत्याग्रह।

च०—सत्याग्रह और दुराग्रह की सीमान्त-रेखा बहुत ही सूक्ष्म होती है आचार्य!

शशांक०—पर रेखा उसी को कहते भी हैं जिसकी चौड़ाई केवल कल्पनागम्य हो।

च०—फिर भी आपका सत्याग्रह मुझे दुराग्रह लगे, इसे आप असंभव तो नहीं मानते?

शशांक—राजाज्ञा को पालन कराने का व्यवसाय करने वाला सत्याग्रह को समझ सके इसके अतिरिक्त मैं और कुछ भी असंभव नहीं मानता।

च०—तो फिर मेरे कर्त्तव्य का अनुरोध है, क्षमा करें, कि मैं आपको बन्दी बना लूँ।

शशांक०—यदि आप कर्त्तव्य का कोई अस्तित्व मानते हैं, तो उसके अनुरोध का आप सहर्ष पालन करें।

जलधर—पर जब तक मैं जीवित हूँ तब तक...

शशांक०—शांत जलधर, मेरे सत्याग्रह का प्रधान अस्त्र है अहिंसा, यह तुम भूल रहे हो। सामंत, आप मुझे बंदी बनाएँ, मैं तैयार हूँ।

च०—पर आचार्य इसका परिणाम क्या होगा आपको मालूम है?

शशांक—सत्य का एक ही परिणाम होता है और वह है विजय।

च०—पर सत्य और विजय के बीच में......

शशांक०—कितने युग लगेंगे और मुझे जन्म और मरण के कितने द्वार लाँघने पड़ेंगे, इस की मुझे चिंता नहीं। मुझे आप बंदी बना सकते हैं। (एकाएक जलधर आकर शशांक के गले से लग जाता है)

जलधर—शशांक!

शशांक—जलधर!

जलधर—यह...यह तुम कर क्या रहे हो?

शशांक—मेरी कला ने मुझे जो संदेश भेजा है मैं उसी का प्रयोग करने जा रहा हूँ। मुझे ईश्वर से ही पूछना है, उसका प्रतिनिधित्व अधिक कौन कर सकता है निर्माण करने वाला कलाकार या विनाश करने वाला सम्राट्...... ..सामंत!

च०—मेरे कर्तव्य की कठोरता के लिए मुझे क्षमा करेंगे आचार्य! (ताली बजाता है, तीन सैनिकों का प्रवेश)।

श०—मनुष्य को ईश्वर से ही क्षमा माँगना शोभा देता है...चलिए!

(पटाक्षेप)।

तीसरा दृश्य

(सम्राट् समुद्रगुप्त की राज-सभा। स्फटिक-निर्मित विशाल मण्डप में रत्नालंकृत स्वर्ण-सिंहासन पर सम्राट् समुद्रगुप्त और अन्य आसनों पर सभासद बैठे हैं। मण्डप के स्वर्णाभ प्रदीपों के साथ पूर्णिमा की रजत किरण-माला का गंगा-जमनी आलोक सभा-भवन में जड़े हुए मणि-माणिक्यों से टकरा

कर और भी प्रखर हो उठा है और उसी आलोक-वर्षा में राशि-राशि हीरक-कणों से आच्छादित ओस के बूँदों से भीगी हुई सुकुमार लता बेलि की तरह खड़ी है नर्तकी निर्झरिणी। वीणा का मधुर-संगीत, मृदंग का जलद-गम्भीर-निर्घोष और उस में नर्तकी के पायलों की झीनी रुनझुन, जान पड़ता है स्वर की त्रिवेणी लहरा आई है। इतने में ही मानों एकाएक बिजली चौंध गई, नर्तकी के पावों में मानों उनचास पवनों का वेग भर गया, मंडप में एक सौंदर्यशिखा तड़िद्वेग से घूम गई और मालूम नहीं कितनी देर तक राजसभा मन्त्र-विमुग्ध सी निर्निमेष बैठी रही पर जब वह सचेत हुई तो देखा नर्तकी निर्झरिणी नतमस्तक हाथ जोड़े खड़ी है—नृत्य समाप्त होगया है। सभा में करतल-ध्वनि होती है और सम्राट अपने गले से मौक्तिक-माल निकाल कर निर्झरिणी की ओर बढ़ाते हैं। सामन्त चन्द्रसेन का प्रवेश)

स०—(हार उसे देते हुए) नर्तकी निर्झरिणी, तुम भारत की नृत्य-कला की सजीव प्रतिमा हो और मुझे गर्व है कि आज अपनी राज-सभा के रत्न के रूप में तुम्हारा सन्मान कर रहा हूँ—बधाई! (निर्झरिणी हार लेकर सम्राट का अभिवादन करती है)

चं०—(सम्राट को अभिवादन करते हुए) सम्राट!

स०—मित्रो, अभी तक आपने नाचती हुई बिजली का चमकना देखा, अब अमृत बरसाने वाले मेघ का गरजना सुनिए। सामंत चन्द्रसेन, हम लोग आचार्य शशांक की प्रतीक्षा ही कर रहे थे, उन्हें राज-सभा में सादर ले आओ।

चं०—पर सम्राट ?...

स०—क्यों ?

चं०—आचार्य शशांक ने राज-सभा का रत्न बनना अस्वीकार कर दिया। (निर्झरिणी चौंक उठती है)

स०—अस्वीकार ?

चं०—हाँ सम्राट!

स०—इसका अर्थ ?

चं०—मुझे भय है इसका अर्थ है राजाज्ञा के प्रति आचार्य का...

स०—रुक क्यों गये ?

चं०—सम्राट शायद उसे सुनना पसन्द नहीं करेंगे।

स०—राजाज्ञा के प्रति अवज्ञा ?...पर सामन्त चन्द्रसेन, राजाज्ञा के पालन के लिए तुम आचार्य शशांक को राज-सभा में उपस्थित होने के लिए बलपूर्वक बाध्य भी तो कर सकते थे ?

चं०—राजाज्ञा के उल्लंघन के अपराध में मैं आचार्य को बंदी बना कर ले आया हूँ सम्राट !

स०—उन्हें उपस्थित करो। (चन्द्रसेन एक सैनिक को संकेत करता है। सैनिक बाहर जाता है। सम्राट् निर्झरिणी की ओर देखते हैं, निर्झरिणी बादलों से आँख-मिचौनी खेलते हुए पूर्ण चन्द्र की ओर। सभा में पूर्ण निस्तब्धता छा रही है, इतने में ही गम्भीर गति से गैरिक वस्त्र पहने आचार्य शशांक प्रवेश करते हैं। उन्हें देखकर एक बार किसी अज्ञात भावना से निर्झरिणी सिहर-सी उठती है, पर तुरन्त आँखें फेरकर वह देखने लगती है एक पतंग की ओर, जो एक जलते हुए दीपक के सामने खड़ा है, उसकी ज्वाला के साथ अपने साहस को तौलना चाहता है। शशांक धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं और शांत-मौन सभा के मध्य में आकर खड़े हो जाते हैं)

स०—आचार्य शशांक, यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?

श०—एक कठोर सत्य, जो कानों से अधिक हृदय को लक्ष्य करके कहा गया है।

स०—और वह सत्य शायद यह है कि राजसभा का रत्न निर्वाचित होना आप अपने लिए अपमानसूचक समझते हैं।

श०—मैं उसे किसी भी कलाकार के लिए आपमानसूचक समझता हूँ। (निर्झरिणी एक बार उनकी ओर देखकर आँखें नीची कर लेती है)

स०—जानते हैं आप किस से बातें कर रहे हैं ?

श०—भारत-सम्राट् आर्य समुद्रगुप्त से।

स०—और यह भी कि भारत-सम्राट की राजसभा में आमन्त्रित होने का गर्व प्राप्त करने का अवसर प्रदान कर आपको और आपकी कला को कितना महत्त्व दिया गया था ?

श०—मैं मानता हूँ कि मुझे अवसर दिया गया था कि मैं अपने आप को बेच सकूँ।

स०—संगीतकला के प्रदर्शन को क्या बिकना कहते हैं ?

श०—हाँ, यदि वह प्रदर्शन हार्दिक शांति के लिए न होकर केवल मनोविनोद के लिए हो।

स०—शांति!...पर आपके जिस गले से शांति की यह स्रोतस्विनी बहती है, मेरी भृकुटि के एक हलके संकेत से उसकी क्या अवस्था हो सकती है आप जानते हैं ?

श०—यदि ईश्वर मिट्टी को छूकर सोना बना देने की शक्ति रखते हैं, तो सम्राट भी सोना को छूकर मिट्टी बना देने की शक्ति रखते हैं, यह मैं जानता हूँ।

स०—आचार्य शशांक, जिसे मैंने अपनी राजसभा का रत्न बनाना चाहा था उसे धूल में समल देने के लिए बाध्य होने पर, सच मानिए, मुझे खेद होगा।

श०—आपकी सचाई पर मुझे उतना ही विश्वास है, जितना आपको मेरी इस सचाई पर होना चाहिए कि आपकी राजसभा के विलासमय अस्तित्व की विराट व्यर्थता को ढोने के बदले जीवन के कल्याण के लिए मैं दर-दर भटकती फिरने वाली धूल में मिल जाना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ।

स०—पर धूल में उड़ने के लिए सूखने की आवश्यकता होती है आचार्य !

श०—सूखना तो तपस्या है सम्राट् !

स०—और तपस्या का मूल्य है मृत्यु !

श०—यह तपस्या की बहुमूल्यता है।

स०—पर तपस्या जीवन का केवल एक मार्ग है, अन्त नहीं।

श०—तपस्या वह मार्ग है जिसका प्रत्येक पग स्वयं एक अन्त होता है और जिस के अन्तिम पग तक कोई पहुँच ही नहीं सकता। तपस्या अपने आप के लिए होती है, किसी अन्त के लिए नहीं।

स०— पर अन्त आता है।

श०—तपस्या का नहीं, तपस्या करने वाले का।

स०—पर जब वह अंत मृत्यु का द्वार बन कर आता है, तो तपस्या करने वाला कैसा भी हो, उसे झुकना ही पड़ता है।

श०—किसी द्वार को पार करने के लिए झुकना उसे सिर झुकाना नहीं है।

स०—आचार्य ! आपको अपने प्राणों का भय नहीं है ?

श०—प्राणों के निकलने का भय करना प्राण डालने वाले का अपमान करना है।

स०—आचार्य !

श०—सम्राट !

स०—आप अपने जीवन से खेल रहे हैं।

श०—सारी सृष्टि ही एक खेल है।

स०—लेकिन खेल के भी नियम होते हैं।

श०—नियम सत्य होते हैं और सत्याग्रह सबसे बड़ा नियम है।

स०—तो क्या आप समझते हैं, सत्य को अकेले आप ही पहचानते हैं ?

श०—सत्य अकेला मेरा ही नहीं है, पर जो सत्य मेरा है उसे दूसरों के सत्य के विरोध में खड़ा करने में मुझे संकोच नहीं।

स०—राजाज्ञा का पालन होना चाहिए, यह एक महान सत्य है।

च०—ईश्वराज्ञा राजाज्ञा से बड़ी है यह उससे भी महान् सत्य है।

स०—पर ईश्वर राजा की जिह्वा से ही बोलता है।

श०—जो ईश्वर केवल राजा की जिह्वा से बोलता है उसे कलाकार अपना ईश्वर नहीं मानता।

स०—आचार्य! यह राज-द्रोह है!

श०—यह जो कुछ भी है, मेरा विश्वास है।

स०—लेकिन इस का मूल्य?

श०—आप जो वसूल कर सकें, वह सब कुछ।

स०—तो...तो...(एकाएक निर्झरिणी उठती है और झपटकर सम्राट के चरणों पर गिर पड़ती है)

नि०—सम्राट! क्षमा...क्षमा...क्षमा...

स०—(उसे उठाते हुए) नर्तकी! क्षमा किसे...किस बात की?

नि०—अपराध बड़ा होता है, पर क्षमा उससे भी बड़ी हो सकती है। जो अपने सत्य के आग्रह का साहस रखता है उसे उसके सत्य की सदोषता के दण्ड साथ उससे साहस का पुरस्कार भी मिलना चाहिए।

स०—नर्तकी! साहस का पुरस्कार एक बार मिल सकता है पर सत्य की सदोषता का दण्ड बार बार मिलता रहेगा। तुम स्वयं आचार्य से ही पूछो वे क्षमा चाहते हैं?

नि०—(शशांक की ओर घूमकर) आचार्य, मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगे, आत्महत्या कोई वीरता नहीं है।

श०—देवि, क्या किसी भी ऐसे बलिदान की आप कल्पना कर सकती हैं जो आत्महत्या न हो?

नि—पर समुचित बलिदान के लिए जीवन में अवसरों की कमी नहीं।

श॰—अवसर बुलाये नहीं जाते, वे स्वयं आते हैं और आने पर उन्हें लौटाया नहीं जा सकता।

नि॰—लौटाया जा सकता है आचार्य ! सब कुछ लौटाया जा सकता है, मृत्यु भी लौटाई जा सकती है, आप स्वयं न लौटाएँ, मुझे अधिकार दें, मैं...

श॰—जिस मृत्यु को मेरा विश्वास, मेरे जीवन का रस ही आमंत्रित कर रहा है उसे आप कितने दिनों तक लौटा रखेंगी। दण्ड पाकर मरना मेरे लिए क्षमा पाकर जीने से अधिक श्रेयस्कर होगा।

नि॰—तो क्या यह आपका अन्तिम निश्चय है ?

श॰—यह मेरा निश्चय नहीं, मेरे सत्य का फैसला है और वह तो मेरे लिए अन्तिम ही होकर रहेगा।

नि॰—तो क्या......क्या......।

श॰—हाँ देवि ! आप की इस अतिशय ममता-भावना के लिए आपको धन्यवाद देने के साथ यह कहने की भी मुझे अनुमति दें कि अपने जीवन को अपने विश्वासों की प्रयोगशाला बना कर मैंने अब उसे इस योग्य नहीं छोड़ रखा है कि इस पर कोई अपनी ममता के एक बूँद का भी अपव्यय करे। मुझे क्षमा करें देवि !

नि॰—...ओह !...(हाथों से आँखें मूँद लेती है)

स॰—सामन्त चन्द्रसेन ! नर्तकी को विश्राम-गृह में ले जाओ (चन्द्रसेन निर्झरिणी को लेकर जाता है) आचार्य, आप अपनी दण्डाज्ञा सुनने के लिए तैयार हैं ?

श॰—सुनने के लिए ही नहीं उसका स्वागत करने के लिए भी।

स॰—तो कल सूर्योदय से पूर्व आपको पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर से नदी में फैंक दिया जायगा। अब तो आप संतुष्ट हैं ?

श॰—पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर से मैं अपने विश्वास की जय-घोषणा कर सकूँगा, मुझे इसका संतोष ही नहीं, उल्लास भी है।

(सम्राट संकेत करते हैं सैनिक आचार्य की ओर देखते हैं। गम्भीर भाव से आचार्य शशांक का प्रस्थान)

स०—मैंने क्या करना चाहा था और यह क्या हो गया ?... सोचना होगा.......(प्रस्थान)

(पटाक्षेप)

चतुर्थ दृश्य

(निर्झरिणी का शयन-कक्ष । आपादमस्तक कृष्णवस्त्र पहने निर्झरिणी एक स्वर्ण-दीप सम्मुख रखे कुछ लिख रही है । पीछे से मंजरी सवेग प्रवेश करती है, पर निर्झरिणी को लिखने में व्यस्त देख कर सहम जाती है थोड़ी देर तक उसके पीछे खड़ी रह कर वह खिड़की की ओर बढ़ती है और उसके पल्ले खोल देती है। वायु का एक झोंका आता है और दीपशिखा तिलमिला उठती है । लिखना बन्द कर निर्झरिणी पीछे की ओर देखती है तो मंजरी खड़ी है ।)

मं०—(उसके सम्मुख आकर) यह क्या निर्झरिणी, तू कहीं बाहर जा रही है ?

नि०—हाँ ।

मं०—इतनी रात्रि को ?

नि०—क्यों, रात्रि क्या केवल सोने के लिए ही होती है ?

मं०—मेरा अभिप्राय है कि...

नि०—मुझे अभी तेरा अभिप्राय सुनने से अधिक आवश्यक काम करने है, अभी तू जा ।

मं०—पर सखी; इतना सुने बिना तो मैं नहीं जाऊँगी कि आज राजसभा में...

नि०—हुआ क्या ? मैं रत्न बनी, मुझे मेरा मूल्य मिला और मैं चली आई । अच्छा तू जा ।

मं०—नहीं, नहीं, तुझे मेरी बातों का उत्तर देना ही होगा। तूने नृत्य किया ?

नि०—हाँ !

मं०—नृत्य देख कर राजसभा चकित हो गई !

नि०—हाँ !

मं०—फिर सम्राट ने अपने हाथों तुझे सम्मान-पत्र दिया ?

नि०—हाँ ! हाँ ! हाँ !

मं०—और तब तूने...तूने...अरी, यह क्या ? तू रो रही है ? (निर्झरिणी की आँखों की ओर देखती है)

नि०—मैंने तुझ से कह दिया न, तू अभी जा !

मं०—निर्झरिणी ! अपने मन की व्यथा तू मुझ से भी छिपायेगी ? (उसके आँसू पोंछती है)

नि०—मंजरी खुले बाजार में जो बिक चुकी हो अब उसके पास छिपाने को है ही क्या ? (उसकी गोद में मुँह छिपा लेती है ।)

मं०—यह तेरी भ्रांत भावना है निर्झरिणी। तू भूल रही है कि भारत-सम्राट आर्य समुद्रगुप्त की राजसभा का रत्न बन कर तू...

नि०—बन गई हैं एक मदिरा जिसका जीवन सबका उन्माद है। मंजरी मैं तेरे पाँव पड़ती हूँ, अब तू मुझ से इसकी चर्चा न कर।

मं०—यह तू क्या कह रही है निर्झरिणी ? अच्छा यह तो बता सम्राट तेरी कला से प्रसन्न तो हुए ?

नि०—सम्राट की प्रसन्नता यह मोतियों की माला, अप्रसन्नता मृत्यु ! माला सर झुकाये रखने वाले को, मृत्यु सर उठाये रखने वाले को ! मैंने माला ग्रहण की उस ने मृत्यु, मैंने अपनी पराजय का मूल्य लिया, उसने अपनी विजय का मूल्य चुका दिया, मैं जिसके हाथों बिक गई उसे उसने खरीद लिया वहाँ वह है और उसका मोल और यहाँ मैं हूँ और मेरा मूल्य ! (गले से माला निकाल कर उसे फेंक देती है)

मं०—पर यह तू बातें किस की कर रही है ?

नि०—जो मेरी आशा के क्षितिज के उस पार था, पर जिसकी पगध्वनि मैं अपनी कल्पना में निरंतर सुना करती थी।

मं०—पर वह है कौन ?

नि०—जिसे मूल्य की लम्बी-से लम्बी रेखा नहीं बाँध सकती।

मं०—मैं पूछती हूँ, वह है क्या ?

नि०—जो कि मैं होना चाहती थी, हो न पाई।

मं०—पर उसका नाम क्या है ? (चन्द्रसेन का प्रवेश)

चं०—आचार्य शशांक !

नि०—यह नाम तो उसके शरीर का है सामन्त। उसकी आत्मा का नाम है—कलाकार !

चं०'कलाकार' की जितनी अच्छी व्याख्या तुम कर सकती हो, उतनी कर सकना मेरे लिए तो सम्भव नहीं है नर्तकी निर्झरिणी, पर इतना अनुभव करता हूँ, कि कला के लिए लोक-कल्याण कर सकने का सबसे प्रशस्त मार्ग है राज-शक्ति का संरक्षण प्राप्त करना, और वह संरक्षण जब स्वयं किसी के द्वार पर आया हो, तो उसे ठुकराना कला के अस्तित्व पर कुठाराघात करना है !

नि०—सामंत, जिस दृष्टिकोण से तुम कला को देखते हो, क्षमा करना, उस में सब से बड़ा विकार यही है कि वह केवल शरीर को स्पर्श कर पाता है, आत्मा को नहीं, केवल अस्तित्व को पहचान सकता है, जीवन को नहीं। कला की चर्चा करते समय तुम्हारा ध्यान केवल इसी पर है कि अस्तित्व के संघर्ष में उसका क्या उपयोग हो सकता है, इस पर नहीं कि अस्तित्व के संघर्ष से अवकास-प्राप्त क्षणों में मुक्त जीवन उसका क्या उपयोग कर सकता है। तुम्हारे लिए कला औषधि-सेवन है, अमृत-पान नहीं।

चं०—तो तुम क्या कला का लक्ष्य लोक-कल्याण नहीं मानतीं !

नि०—यदि कल्याण का अर्थ तुम मानते हो केवल भौतिक वेदनाओं से परित्राण पाना, तो नहीं। कला की साधना का केवल नकारात्मक महत्त्व नहीं है, वह मुख्यतः स्वीकारात्मक है। कला को किसी कल्याण का साधन बन कर नहीं जीना है, इसलिए कि वह स्वयं कल्याणरूपिणी है, उसे किसी लक्ष्य का मार्ग बनकर नहीं रहना है, क्योंकि वह स्वयं लक्ष्यस्वरूप है।

चं०—पर कला को यह जो रूप तुम दे रहो हो निर्झरिणी वास्तविकता से उसकी कुछ भी एकाकारता हो सकती है या नहीं, मुझे इस में सन्देह है।

नि०—रुग्णावस्था में संसार की सारी वास्तविकता ओषधि के कुछ बूँदों में ही सिमट कर आ बैठती है, पर इससे न तो ओषधि मनुष्य का स्थायी भोजन बन सकती है, न रुग्णावस्था उसका स्थायी जीवन। रोगिणी मानवता यदि आज कला का स्वाद न पहचान सके तो इसमें दोष कला का नहीं है। कला अमृत है, पर उसकी मादकता को सँभाल सके, ऐसा शरीर नन्दनवन की मिट्टी का ही बना हुआ हो सकता है और सामन्त? वही है वह शरीर जिसे तुम कहते हो आचार्य शशांक!

चं०—पर आचार्य शशांक को कलाकार बनने के लिए सम्राट के दिए हुए सम्मानपूर्ण निमन्त्रण की ऐसी तिरस्कारमय अवहेलना करना आवश्यक ही था, यह मानने के लिए मैं तैयार नहीं।

नि०—और वह इस लिए कि जिसे सम्मानपूर्ण निमन्त्रण का आवरण पिन्हा कर सम्राट के उपहार के रूप में तुम लिए फिरते हो उस की तह में से दूसरों की दुर्बलताओं का कितना क्रूर उपहास और राजदण्ड के पशुबल का कितना घोर दंभ झाँक रहा है शायद इस पर तुम ने ध्यान ही नहीं दिया।

चं०—तो क्या तुम्हारे कहने का तात्पर्य यह है निर्झरिणी, कि अभी तक सम्राट के निमन्त्रण को जिस किसी ने भी स्वीकार किया है उसने केवल या तो लोभ के वशवर्ती होकर नहीं तो भय के ?

नि०—इस से भी अधिक सामन्त मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अभी तक सम्राट को जिस किसी ने सम्राट कहा है उस के हृदय में लोभ भी रहा है, आँखों में भय भी।

चं०—तुम्हारे साथ भी क्या यही सच है ?

नि०—मेरे साथ भी और तुम्हारे साथ भी। पर यदि इसका कोई अपवाद हो सका है तो वही जो कल सूर्योदय के पूर्व अपने विश्वास का मूल्य अपने प्राणों से चुकाने वाला है...

मं०—कौन ? आचार्य शशांक ?

नि०—हाँ, और सामन्त, तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि निर्झरिणी ने प्रतिज्ञा की है कि या तो वह आचार्य के प्राण बचायेगी और नहीं तो उन्हीं के पथ पर चलकर अपना भी प्राणोत्सर्ग करेगी।

चं०—निर्झरिणी !...

मं०—यह तू क्या कह रही है ?

नि०—और यह लो सामन्त, भारत-सम्राट आर्य समुद्रगुप्त की राज-सभा के रत्न-पद से नर्तकी निर्झरिणी का यह त्याग-पत्र। तुम मेरी ओर से सम्राट से निवेदन कर देना कि उन्होंने मुझ पर जो इतनी कृपा की और मेरी कला की प्रशंसा में सौजन्य-भरे जो थोड़े शब्द कहे, उसके लिए व्यक्तिगत रूप से उन्हें अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हुई भी मैं यह स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि इस रत्न-पद के लिए आचार्य शशांक के हृदय में ऐसी कोई भावना न थी, जो इस समय मेरे हृदय में न हो, और इस पद का त्याग कर अपने विश्वास का ऐसा कोई मूल्य नहीं, जिसे आचार्य से वसूल किया जा सके और मैं न चुका सकूँ।

(निर्झरिणी चन्द्रसेन के हाथ में अपना त्याग-पत्र देती है, मंजरी झपटकर निर्झरिणी के हाथ पकड़ लेती है)

चं०—किन्तु...किन्तु...

नि०—सामंत, जिस दिन मैंने रत्न-पद ग्रहण किया था, उस दिन तुमने कहा था—'मुझे तुम से ऐसी ही आशा थी निर्झरिणी।' और आज जब कि मैं उस पद का त्याग कर रही हूँ, तब भी तुम्हारे मुख से मैं वे ही शब्द सुनना चाहती हूँ। उस दिन तुमने मुझे बधाई दी थी सामंत, क्या आज नहीं दे सकोगे ?

चं०—यह असम्भव है निर्झरिणी ! तुम नहीं समझती कि तुम क्या कर रही हो।

नि०—मैं जो कुछ कर रही हूँ वह उसका शतांश भी नहीं है जो आचार्य शशांक कर चुके हैं और उन्होंने जो कछ किया उसे समझने का दावा मुझ से अधिक कौन कर सकता है ?

चं०—पर इसका परिणाम ?

नि०—इसकी चिंता मुझ से अधिक उसे होनी चाहिए जिसके शब्दों से परिणाम टपका करते हैं...पर अब यह प्रसंग यहीं तक।

चं०—परन्तु......

नि०—कुछ नहीं। मेरी एक बात सुनो। अपनी एक चीज थोड़े समय के लिए मुझे उधार दे सकोगे ?

चं०—क्या ?

नि०—अपनी वह अँगूठी।

चं०—पर यह तो केवल मेरा समंत-पद-चिह्न है, जिससे.....

नि०इसी से तो माँगती हूँ। मैं इसका दुरुपयोग नहीं करूँगी, तुम्हें इसका विश्वास होना चाहिए।

चन्द्रसेन—मुझे विश्वास है। (अंगूठी अपनी उँगली में से उतार कर निर्झरिणी को पहना देता है) और कुछ ?

नि०—और तुम्हारी बधाई ?

चं०—नहीं निर्झरिणी मैं फिर कहता हूँ तुम सोचो......समझो... और लौटा लो ! (त्यागपत्र लौटाना चाहते हैं ।)

नि०—तुम्हारी आज्ञा मैं नहीं मान सकूँगी, इसका मुझे खेद है सामंत फिर भी तुम मेरे वंदनीय हो मेरी इस नई जीवन-यात्रा की प्रस्थान-वेला में मुझे बधाई न दे सको तो कम से कम आशीर्वाद तो दो......(नतमस्तक होती है)

चं०—निर्झरिणी ।......(गला भर आता है)

नि०—अच्छा, क्षमा करना, मुझे शीघ्रता है......मंजरी, तुम से फिर मिलूँगी......(उसे चूमती है और फिर सवेग चली जाती है)

मं०—निर्झरिणी......निर्झरिणी ।......(प्रस्थान)

(सामंत चन्द्रसेन हाथ में त्याग-पत्र लिए खड़े रह जाते हैं । सामने का स्वर्ण-दीप मँझाता जा रहा है फिर एक लंबी लौ फेंक कर वह बुझ जाता है । धीरे-धीरे सामंत का प्रस्थान)

पंचम दृश्य

[पर्वत शिखर पर कारागृह । ऊँचे, नुकीले पर्वतीय वृक्षों के नीचे छाया और आलोक गाढ़ालिंगन में बँधे सो रहे हैं । रात्रि की निस्तब्धता वन्य पशुओं के कर्कश चीत्कार और वायु के झोंकों से खड़खड़ा उठने वाले गिरे हुए सूखे पत्तों के हिलने से रह-रह कर भंग हो जाती है । आकाश में चाँदनी के साथ बादलों का मूक अभिनय चल रहा है और कारागृह के पीछे होकर बहने वाली पहाड़ी नदी की निर्विराम कल-कल ध्वनि मानो पृष्ठ-संगीत प्रदान कर रही है । कारागृह के लौह-द्वार के सामने दो प्रहरी [illegible] तलवारें लिये घूम रहे हैं । कृष्णवसना निर्झरिणी का प्रवेश ।)

एक प्रहरी—कौन है ?

नि०—एक स्त्री।

दूसरा—इस समय इधर आने का प्रयोजन ?

नि०—मैं आचार्य शशांक के दर्शन करना चाहती हूँ।

पहला प्रहरी—आपके पास कोई आज्ञापत्र है ?

नि०—हाँ, यह अंगूठी। (अंगूठी देख कर प्रहरी निर्झरिणी का अभिवादन करते हैं)

पहला प्रहरी—मैं अभी आचार्य को सूचना देता हूँ।

नि०—आचार्य क्या विश्राम कर रहे हैं ?

दूसरा प्रहरी—नहीं, वे ध्यान-मग्न हैं।

नि०—तो फिर मैं ही उनके पास क्यों न चलूँ ?

पहला प्रहरी—कारागृह में महिलाओं का प्रवेश करना नियम-विरुद्ध है। आप ठहरें, मैं उन्हें अभी सूचना देता हूँ। (प्रस्थान)

(आकाश में काले मेघ उड़ते चले जा रहे हैं, वायु के वेग से निर्झरिणी का काला अंचल फहरा उठता है वृक्षों की काली छाया हिल-डुल कर करवट बदल फिर सो रहती है। प्रहरी के साथ आचार्य शशांक का प्रवेश। निर्झरिणी सर झुका कर नमस्कार करती है। दोनों प्रहरी दूर चल जाते हैं)

श०—देवि निर्झरिणी ! इस समय यहाँ आप ?

नि०—मुझे 'तुम' कहो शशांक ! मेरा जीवन तुम्हारे अधिक से अधिक निकट पहुँचना चाहता है।

श०—तुम सबसे अधिक सत्य के निकट पहुँचने की चेष्टा करो देवि ! वही तुम्हें वहाँ पहुँचायेगा, जहाँ मैं जा रहा हूँ।

नि०—पर तुम नहीं जा सकोगे शशांक ! मैं तुम्हें लौटा ले चलने आई आई हूँ।

निर्झरिणी—मैं जिस पथ पर चल रहा हूँ वह इतना संकीर्ण है कि तुम

कर लौटने की उसमें जगह ही नहीं। उस पर तो केवल आगे ही बढ़ा जा सकता है।

नि०—पर तुम चाहो तो उस संकीर्ण पथ को भी विस्तृत बना सकते हो। तुम केवल पथिक ही नहीं, पथ-निर्माता भी हो।

श०—मुझ पर इतनी श्रद्धा की वर्षा कर शायद तुम अपनी बुद्धि के साथ अन्याय कर रही हो देवि! पथ का अनुसंधान करना पथ का निर्माण करना नहीं है।

नि०—पर जिसने आगे बढ़ने के पथ का अनुसंधान किया वह क्या पीछे लौटने के पथ का अनुसंधान नहीं कर सकता?

श०—ऐसा अनुसंधान किया हुआ पथ, पथ नहीं रह जायेगा।

नि०—मैं इसे नहीं मानती। जीवन के कल्याण के लिए जीव को जिस दिशा में भी चलना पड़े वही पथ है। और इस समय जीवन का कल्याण तुम्हारे प्राणों की रक्षा चाहता है?

श०—पर मेरे पथ-भ्रष्ट हो स्वप्राण-रक्षा करने से जीवन का कोई कल्याण हो सकता है, यदि मैं इसे न मानूं तो?

नि०—शशांक तुम अपने जीवन के इतने निकट हो कि उसके मूल्यांकन का तुम्हारा मापदण्ड गलत हो यह संभव है, कम से कम इतना तो तुम मानते हो?

श०—मेरा मापदंड गलत है, यह असंभव नहीं, पर केवल प्राण-रक्षा के लोभ से मैं उसे गलत मानने लगूं, यह असंभव है।

नि०—किंतु मैं तो तुम्हें लोभ तुम्हारी प्राण-रक्षा का नहीं, जीवन के कल्याण का दिलाने आई हूँ।

श०—तो क्षमा करना, ऐसे जीवन के कल्याण में मुझे विश्वास नहीं है, जिसका शिलान्यास असत्य पर हुआ हो।

नि०—मृत्यु का सामना करने से भागना असत्य है मैं मानती हूँ, पर इस से भी बड़ा असत्य है जीवन को पीठ दिखाना।

श०—मैं जीवन को पीठ दिखा रहा हूँ क्या तुम यह सिद्ध कर सकती हो ?

नि०—असिद्ध सत्य सिद्ध सत्य से छोटा नहीं होता। फिर भी कम से कम इतना तो सिद्ध कर सकती हूँ कि जीवन अभी तुम्हारा मुख देखता रहना चाहता है।

श०—और इसका कारण है शायद मेरे प्रति उसका ममत्व।

नि०—ममत्व तुम से अधिक तुम्हारे विचारों के प्रचार के प्रति।

श०—पर मेरे जिन विचारों का उपहास स्वयं मेरा आचरण ही करता हो उनके प्रचार से ही क्या लाभ ? नहीं, देवि निर्झरिणी ? मैं तुम से अनुरोध करता हूँ अब कृपया इस विषय पर मुझ से अधिक आग्रह न करो।

नि०—शशांक, मैं आग्रह न करूँ यह कैसे संभव है जब कि मैं जानती हूँ कि तुम्हारे जीवन का महत्त्व......।

श०—जीवन का महत्त्व तभी तक है देवि, जब तक मृत्यु का रहस्य समझ में न आवे, और याद रखो, मृत्यु भी उसी ने बनाई है, जिसने जीवन बनाया है।

नि०—जिसने मृत्यु बनाई है, यदि उसी ने जीवन भी बनाया है तो जीवन को अधिकार है कि वह मृत्यु के सामने एक बार आँचल फैला कर कोई भीख माँग ले। तुम जीवन के अधिकार बन कर न सही, मृत्यु के उपहार बन कर ही लौट आओ।

श०—देवि निर्झरिणी, मैं स्वीकार करता हूँ कि यदि मैं स्वयं मृत्यु होता तो तुम्हारी वाणी के सम्मोहन के वश होकर, ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, मैं जिसकी भीख तुम्हें न दे डालता पर मैं तो केवल उसका एक शिकार हूँ, मेरे प्राण उसकी थाती, और जो वस्तु स्वयं मेरी नहीं, मैं वह तुम्हें कैसे दे डालूँ ?

चन्द्रसे[illegible]—नहीं, नहीं, शशांक ! ऐसी बात नहीं है, यही तो समझाने

के लिए इस निशीथिनी की निस्तब्धता में तैर कर इसी विजन पर्वत-माला की दुर्लंघ्यता को कुचल कर, इस नारी-जीवन की लोक-लज्जा के आवरण को चीरकर मैं तुम्हारे पास आई हूँ। यह सम्भव है कि अपने तर्क से मैं तुम्हें न जान सकूं पर स्त्री का बल तर्क नहीं हठ है और...और तुम्हारे सम्मुख आज मैं स्त्री बन कर ही खड़ी हूँ।

श०—स्त्री मेरे लिये शक्ति का प्रतीक है देवि! मैं उस से नैतिक सशक्तता की अपेक्षा करता हूँ।

नि०—नैतिक सशक्तता का नाम लेकर मेरी प्रतिस्पर्द्धा को जगाने की चेष्टा मत करो शशांक! स्त्री मृत्यु से नहीं डरती।

श०—पर दूसरे को डरने का आदेश तो देती है?

नि०—उफ! तुम कितने निष्ठुर हो? क्या तुम्हारे तर्कों का तूणीर आत्म-समर्पण करने वालों के हृदय पर बरसने के लिए ही भरा हुआ है?

श०—देवि! मैं जो कुछ कहता हूँ वह मेरा तर्क नहीं, केवल मेरे सत्य का नम्र निवेदन है।

नि०—तो फिर तुम्हारे सत्य के सम्मुख जीवन के कल्याण के नाम पर, कला की साधना संरक्षण के नाम पर और···और एक स्त्री के एक पुरुष से वर-याचना करने के नैसर्गिक अधिकार के नाम पर मैं अपना आँचल फैला कर, आज तुम्हारे प्राणों की भीख माँग रही हूँ। (घुटने टेकती है) शशांक, तुम मुझे अपने सत्य का अंतिम उत्तर सुना दो।

श०—सत्य का उत्तर सर झुका कर नहीं, सर ऊँचा करके सुनो देवि! (निर्झरिणी को उठाते हैं)

नि०—कहो।

श०—अपनी कला की मर्यादा की रक्षा के लिए, अपने विचारों

परिपालन के लिए और अपने विश्वासों की घोषणा के लिए यदि आवश्यकता हो तो शशांक को मरना ही पड़ेगा और शशांक मरेगा !

नि०—.........

श०—देवि निर्झरिणी !

नि०—शशांक—

श०—क्या मैं आशा करूँ कि तुम मुझे क्षमा करोगी ?

नि०—यदि कोई आशा मैं तुम्हें दे सकती हूँ तो इतनी ही कि यदि शशांक मरेगा तो निर्झरिणी भी मरेगी।

श०—पर यह तो उचित नहीं है। तुम्हारा सत्य तो तुम्हें मरने के लिए बाध्य नहीं करता ?

नि०—मेरा सत्य मुझे बाध्य करता है कि जिस पथ पर तुम जा रहे हो उसी पर मैं भी चलूँ।

श०—यदि ऐसा है तो फिर मुझे अधिकार है कि मैं तुम्हें सूचित करूँ कि जिस पथ पर मैं जा रहा हूँ वह कितना संकटापन्न है और...

नि०—और मुझे भी अधिकार है कि मैं तुम से कह दूँ कि मुझे तुम्हारी सूचना की कोई आवश्यकता नहीं। पर अब यह प्रसंग यहीं समाप्त होता है शशांक ! मुझे आशीर्वाद दो कि मैं तुम्हारे पथ पर चल सकूँ।

श०—मैं अपने को आशीर्वाद देने के योग्य तो नहीं मानता, पर हाँ, मेरी शुभ कामनाएँ तुम्हारे साथ होंगी।

नि०—मेरे लिए इतना ही बहुत है (पद-धूलि लेने के लिए झुकती है)

श०—मुझे तुम से महान आशाएँ हैं...प्रहरी ! (दोनों प्रहरी निकट आते हैं) अच्छा देवि, अब मुझे आज्ञा दो। (शशांक कारागृह की ओर लौटते हैं। पीछे-पीछे दोनों प्रहरी जाते हैं। कारागृह का लौह-द्वार झन-... के साथ बन्द हो जाता है। बहुत दूर पर कोई पक्षी करुण स्वर से

इसकी

चन्द्र

निर्झरिणी

बोल उठता है। पहाड़ी नदी के कलकल को भंग कर पत्थर से टकरा कर गिरते हुए किसी चट्टान की खड़खड़ाहट की आवाज़ आती है, आकाश में एक तारा टूट कर अंधकार के वक्ष पर प्रकाश की एक रेखा-सी खींचता हुआ न जाने किधर विलीन हो जाता है। निष्कम्पिनी [illegible] खड़ी कारागृह के उस लौहद्वार की ओर निर्निमेष देख रही है।)

नि०—आशाएँ... मुझ में तुम्हें ?... (सामने चन्द्रसेन के साथ सम्राट समुद्रगुप्त का प्रवेश।)

स०—नर्तकी!

नि०—सम्राट! (चन्द्रसेन मुड़ते और चले जाते हैं)

स०—रात्रि का अन्तिम प्रहर, पर्वत-शिखर पर कारागृह का यह लौह-द्वार और एकाकिनी तुम—इस का अर्थ?

नि०—मैं आचार्य शशांक को उनके पथ पर से लौटाने आई थी सम्राट, पर अब उनके ही पथ पर चलने जा रही हूँ।

स०—और इसका कारण?

नि०—आचार्य शशांक जिस कला के मूर्तिमान स्वरूप हैं, उसी की मैं एक तुच्छ आराधिका हूँ, जो उनका मार्ग है वही मेरा आलोक-लोक है, जो उनका पदचिह्न है वही मेरा पथ।

स०—किंतु आचार्य शशांक राजसत्ता के विरोधी हैं, राजद्रोही हैं, यह तुम्हें मालूम है?

नि०—वे जो कुछ हैं वह इसलिए कि वैसा होना उनके सत्य का अनुरोध है, और ईश्वर का बनाया हुआ सत्य मनुष्य की बनाई हुई राजसत्ता से कहीं अधिक अनुल्लंघनीय है।

स०—पर मनुष्य की बनाई हुई राजसत्ता भी ईश्वर के बनाये हुए इस सत्य का ही एक निदर्शन है कि जीवन का स्वस्थ विकास संगठन से ही हो सकता है और एक संगठित शक्ति का जो भी प्रतीक हो उसे अपनी छाया में उगते हुए जीवन के प्रत्येक अंकुर से अंकुरित

जलि ग्रहण करने का निर्विवाद अधिकार होना चाहिए। फिर राजसत्ता के प्रति विद्रोह की घोषणा करना क्या ईश्वरीय सत्य का उल्लंघन करना नहीं है ?

नि०—सम्राट यह मैं मानती हूँ कि राजसत्ता का आधार है ईश्वरीय सत्य की ही एक शिला, पर यह मैं नहीं मानती कि इसकी रचना की प्रत्येक शिला एक सत्य है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि सम्राट जिस राजसत्ता का संकेत कर रहे हैं मेरी दृष्टि में वह एक प्रासाद की तरह है, जिसकी नींव संगमरमर की चट्टानों की है, दीवारें मिट्टी की।

स०—उस राजसत्ता के प्रति ऐसा दृष्टिकोण होने का कारण ?

नि०—कारण वही है जिसके कार्य-स्वरूप आज सूर्योदय से पूर्व आकाश में किरणों की अरुण-रेखा खिंचने के साथ-साथ उस पहाड़ी नदी की लहरों में रक्त की अरुण-रेखा खिंची जाने को है।

स०—पर इस दृष्टिकोण के पीछे क्या व्यक्तिगत ममत्व की भावना नहीं है ?

नि०—व्यक्तिगत ममत्व नहीं है यह कहकर मैं असत्यवाद की अपराधिनी नहीं बनना चाहती सम्राट, पर आप सत्य मानें यह प्रश्न अब व्यक्ति से ऊपर उठकर उस समष्टि का हो गया है, जिस का मृत्यु मंदिर में प्रतिनिधित्व करने आचार्य शशांक जा रहे हैं। यदि राजसत्ता को अधिकार है कि वह कलाकार के सम्मुख उसकी कला के मूल्यांकन का असभ्य प्रस्ताव सम्मानों के स्वर्णाभ आवरण में लपेट कर रख सके, तो उससे भी अधिक अधिकार कलाकार को है वह उसे उपेक्षा-पूर्वक ठुकरा दे। और तब यदि राजशक्ति को अधिकार है कि वह अपने पशुबल प्रदर्शन से कलाकार को दण्डित करना चाहे, तो कला-कार को अधिकार है कि वह हृदय में क्षमा और वाणी में अपने [illegible] को रख कर उसे अंगीकार कर ले। यह तो अधिकारों का एक

निम्नो

संग्राम है सम्राट, जिस में राजसत्ता को गर्व है अपने पशुत्व का और कलाकार को अपने देवत्व का।

स०—तो नर्तकी निर्झरिणी, तुम्हारा त्याग-पत्र पाने और तुम्हारी वाणी से राज-द्रोह के ऐसे विस्फोटक अग्नि-कण झरते देखने के बाद क्या मेरा यह अनुमान करना युक्तिसंगत न होगा कि आचार्य शशांक ने अपने बाद अधिकारों के इस संग्राम के सेनानायकत्व के लिए तुम्हारा ही वरण किया है ?

नि०—उन्होंने वरण नहीं किया है सम्राट, मैं ही स्वयंवरा बनी हूँ। उन्होंने तो केवल मार्ग-निर्देश किया है, उस पर चलने के लिए मुझे प्रेरणा मेरी आत्मा ने ही दी है।

स०—फिर मेरा यह समझना भी संभवत: उपयुक्त ही होगा कि उस मार्ग पर पाँव रखने के पहले उसकी संभावनाएँ क्या हैं तुमने इस की भी कल्पना कर ली है।

नि०—मुझे अपनी कल्पनाशक्ति से अधिक बल अपने इस विश्वास का है कि राजसत्ता के हाथों में उत्पीड़न की जितनी शक्ति हो सकती है, उससे अधिक शक्ति रहती है कलाकार के हृदय में उसे सहन कर क्षमा कर देने की।

स०—निर्झरिणी !

नि०—सम्राट !

स०—मैं चाहता हूँ तुम समझो कि तुम क्या कह रही हो।

नि०—और मैं चाहती हूँ कि मैं जो कहती हूँ आप उस पर विश्वास करलें।

स०—विश्वास...निर्झरिणी, तुमने अपने जीवन में विश्वास करना सीखा है ?

नि०—हाँ सम्राट, बहुत कुछ ! मुझे विश्वास है कि अभी सूर्योदय होने से पूर्व राजसत्ता इस पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर

बहती हुई इस पहाड़ी नदी में एक मानव का रक्त तर्पण कर उस से सगर्व पूछेगी मेरी भुजाओं में कितना बल है और मुझे विश्वास है तब उस पहाड़ी नदी की रक्त-रंजित लहरें हँस कर उत्तर देंगी—तुम्हारी भुजाओं के बल से अधिक है उसके हृदय का बल जिसका बलिदान ही आज तुम्हारा ताण्डव बना है और तब सम्राट, मुझे विश्वास है कि......

स०—उफ़....ठहरो निर्झरिणी। मैं तुम से कुछ कहना चाहता हूँ तुम उसे सुनो, उसे समझो और फिर उस पर विश्वास करो, करोगी?

नि०—मैं सुन रही हूँ।

स०—इस समय यहाँ मैं तुम्हारे सम्मुख भारत-सम्राट के रूप में नहीं, एक मनुष्य के रूप में खड़ा हूँ, और जो मैं तुम से कहने जा रहा हूँ वह राजसत्ता का आज्ञा-विधान नहीं एक व्यक्ति का अनुरोध है। निर्झरिणी; इस समय तुम्हारी आँखों में अपनी शक्तिसत्ता की विद्युत-रेखा की चकाचौंध भरने के विपरीत मैं तुम्हारे कानों में अपनी दुर्बलता की एक सलज्ज स्वीकृति पहुँचाना चाहता हूँ...मैं...मैं...

नि०—मैं इसके लिए कृतज्ञ हूँ।

स०—और इससे भी अधिक कृतज्ञ तुम्हारा मैं होऊँगा, निर्झरिणी यदि तुम किसी प्रकार भी ऐसा प्रयत्न कर सको कि भारत की राजसत्ता के कोप के अग्निकुंड में भारत के महान कलाकार आचार्य शशांक अपने आप को कूदने से रोक लें।

नि०—सम्राट!

स०—मुझे केवल समुद्रगुप्त कहो निर्झरिणी!

नि०—क्या आपके कहने का अभिप्राय यह है कि मैं आचार्य शशांक को राजसत्ता के सम्मुख नतमस्तक होने के लिए प्रेरित करूँ।

स०—संधि-सूत्र में आबद्ध होकर हाथ मिलाना नत-मस्तक होना है निर्झरिणी। मैं विजय-पराजय की प्रतिस्पर्द्धा की तनातनी लेकर

नहीं; मैत्री के पारस्परिक अभिज्ञान की स्पृहता लेकर उनसे मिलना चाहता हूँ, मैं भूलना चाहता हूँ कि मैं सम्राट हूँ, चाहता हूँ कि वे भूल जायँ कि वे कलाकार हैं। हम दोनों मनुष्य हैं और मनुष्य के रूप में ही हम एक दूसरे का आलिंगन कर सकते हैं। और निर्झरिणी, मेरा अनुरोध है कि मेरी इस भावना को तुम समझो, इस पर विश्वास करो और यदि हो सके तो मुझे इसमें......अरे! .....(आकाश में प्रत्यूष का पीलापन भीन रहा है। दक्षिणी वायु अँगड़ाई ले उठी है। दूर पर जागृति का निःश्वास बन एक कोयल कूक रही है और तब इसी समय कारागृह के प्राचीरों में सहम कर सिमटी हुई निस्तब्धता में से एक अलौकिक संगीत का मधुमय उच्छ्वास उस लौह-द्वार के उपर से छलक कर मानों दिशाओं में चारों ओर उमड़ पड़ता है।)

नि०—आचार्य शशांक स्वर-साधना कर रहे हैं......सुन लो...... इसे अंतिम बार सुन लो......

स०—अंतिम बार!......(संगीत की स्वर लहरी धीरे-धीरे उद्यान की तरह उठती हुई दिशाओं में गूँजती, पर्वत-शिखरों और शिला-खंडों से टकराती, प्रतिध्वनि के रूप में लौट कर फिर मानों कारागृह की अंधकार-विनिमज्जित नीरवता में डूब जाती है। सम्राट क्रूरता के कंकाल की तरह खड़े लौह-द्वार को देखते हुए स्वप्निल, आत्म-विस्मृत, मूक, निश्चेष्ट खड़े न जाने क्या सोच रहे हैं, इतने में ही लौह-द्वार के पीछे से एक झनकार होती है, कारागृह का पाषाण हृदय मानों सचेत हो उठता है, न जाने कितने लोहे और पत्थर के टुकड़े आपस में टकरा कर एक कर्कश झनझनाहट से बज उठते हैं, लौह-द्वार धीरे-धीरे खुलता है और उस के अंधकार में से उषा की मुसकान की तरह गैरिक वस्त्र पहने आचार्य शशांक प्रवेश करते हैं और उनके पीछे सामंत चन्द्रसेन और दो सशस्त्र प्रहरी। सम्राट आचार्य शशांक को देखकर पहले तो हतबुद्धि से रह जाते हैं मानों आचार्य एक अभौतिक अदृष्टपूर्व आलोक-पुंज है जिसे वे पहचान भी न पाये, पर फिर परिचय की छाया आँखों में लौट आती है और सम्राट वेग से आगे बढ़ते हैं।)

स०—आचार्य शशांक!

श०—सम्राट !

स०—यह संगीत था या विभ्रम ?

श०—शायद सम्राट का अभिप्राय मेरी स्वर-साधना से है ?

स०—मैं पूछता हूँ क्या यह आप का ही संगीत था, इस कंठ की ही स्वर-लहरी, इस वाणी का ही इन्द्रजाल ?

श०—हाँ, मैं गा रहा था सम्राट !

स०—यदि इसे ही गाना कहते हैं, तो अमृतवर्षा किसे कहते हैं ? शशांक !...शशांक !...(झपट कर उन्हें आलिंगन-पाश में जकड़ लेते है।) क्षमा !...क्षमा !...

श०—(आलिंगन में से धीरे-धीरे निकल कर) सम्राट, अब सूर्योदय होने को ही है, और वह पर्वत-शिखर और उस पहाड़ी नदी की लहरें शायद मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं...अब मुझे आज्ञा दें !

स०—आचार्य ! आप की प्रतीक्षा जीवन कर रहा है, जिसे इस मर्त्यभूमि में अमरत्व की साधना करनी है। और मैं आप को जीवन के पास लौटा ले चलने को आया हूँ। आप को मेरे साथ लौटना ही होगा। सामन्त चन्द्रसेन, आचार्य शशांक को आश्रम में पहुँचाने के लिए रथ का प्रबन्ध करो.........और.........और.........साथ ही राजधानी में घोषित करादो कि आज रात्रि में आचार्य के आश्रम में संगीत-समारोह होगा जिस में भारत-सम्राट समुद्रगुप्त की ओर से स्वागत का......

शशांक—निर्झरिणी !......अरे......(निर्झरिणी मूर्च्छित होती है सम्राट झपट कर उसे पकड़ लेते हैं)

स०—निर्झरिणी ! निर्झरिणी !...यह तो मूर्च्छित हो गई। पानी...पानी...सामन्त, पानी लाओ।...(सामन्त चन्द्रसेन पानी के लिये दौड़ते है। सम्राट् निर्झरिणी को शिला-खंड पर लिटा कर अपने उत्तरीय से उसे हवा करते हैं। और तभी प्राची में वालसूर्य की स्वर्णिम किरणें खिल खिलाकर हँस पड़ती हैं।)

पटाक्षेप